

ॐ ह्रीं श्रीं अर्धं नमः

श्री भगवतीजी-सूत्र-व्याख्यानमाला

प्रथम भाग—श्री निनम्नुति

प्रथमः भागः—भगवती श्री सुप्रसन्नगामीजी महागज
प्रथमः सूत्रः भगवती श्री सुप्रसन्नगामीजी महागज

भगवतीजीः

भगवतीजीः भगवतीजीः भगवतीजीः भगवतीजीः भगवतीजीः
भगवतीजीः भगवतीजीः भगवतीजीः भगवतीजीः भगवतीजीः

श्रीमद् विजयलक्ष्मीश्वरीजी महागज

कार्य सुगम करनेके बाद आजतक अनेक कठिनाईओंका हमें सामना करना पड़ा है। आज भी हम संपूर्ण प्रथम भागका मुद्रण कराने के लिये समर्थ नहीं बने हैं।

कार्य पूर्ण करनेमें अत्यधिक विलंब करना हमें न रुचा। हमलोगे मूल मुद्रणाती प्रथम-भागको दो विभागोंमें विभाजित करके शीघ्र-शीघ्र जिम्मानुओंके हस्तकमलमें सौंपित करना हमने उचित समझा है। उनमें भी सुगमताके लिये प्रथमभागकी ५०० प्रतियोंको दो विभागोंमें विभाजित किया है। शेष प्रतियाँ एक ही विभागमें प्रेषित की जायेगी। शेष विभाग पूर्ण करनेमें अब अधिक दिनांक न होगा ऐसा हमारा विश्वास है।

भाषा-संस्कार श्रीमान्महोदयोंके साथ टीप्पणीयों में अनुवादक द्वारा छोड़ी जाय भी दी है। इस कार्यसे जैनशास्त्रको जन-मन में उदात्त करनेके प्रयत्नको अत्यधिक लाभ होगा।

प्रकाशक-महोदयोंके टीप्पणियों में प्रेषकों अलंकृत करनेके लिये जो-जो सुझाव दिये गए निम्नलिखित हैं।

१. आ-देश, विभाग १, म. ने मारा अनुवादित अंग एवं मुद्रण कार्यका प्रकाशक परित्याग उत्पन्न है। आपके इस कार्यके लिये हमें आभार प्रकट करनी है।

विषयानुक्रम

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
३	प्रणेता और व्याख्या	६४	मंगलाचरण के लिए जिन- स्तुति क्यों ?
५	प्रणेताकी विश्वसनीयता	७१	मंगल-स्वरूप वस्तु से मंगल- साधने के लिये उसे मंगल- बुद्धि से ग्रहण करना आवश्यक है
७	जिनने गणघर भगवान इतनी द्वादशांगी	७४	मंगल बुद्धि से मंगल स्वरूप साधु को जो ग्रहण करे, सभी बड़े मंगलकारी होते हैं
१२	निष्ठात्रय और द्वादशांगी	७५	पशुपाल और जयदेव की कथा
१७	तीन टच(पदों) का कम एक वाक्याविधान है।	७७	पानी आग को बुझाती है ; पर आग के प्रमाण के अनुसार अरु दालना आवश्यक है ;
१९	मूत्र में ही अनेकानासाद	७८	मृदुल के लिए भावना- योग अर्थात् प्रयुक्त आवश्यक
२०	अनेक में ही उत्साह-नयन और मोक्ष		
२१	विद्वत् में द्वादशांगी		
२५	द्वादशांगी प्रत्यक्ष द्वा		
२५	प्रणेता गणघर भगवान ग्रहणी शरीर		
३३	इस मूत्र के विश्लेषण		
४०	जिनमें से काँ बरत कर कहा नहीं		
४०	जिनमें से बरत होते हैं इस विषय		

छा	विषय	छा	विषय
१५९	लक्ष्मी से नदी पर लक्ष्मी के त्यागसे दान होता है	१७०	व्याख्यान-श्रवण से श्रुत-ज्ञानका विकास
१६१	श्रीजिनमूर्ति के लिए पट्टी आरक्षणना मय निर्दिष्ट थी है	१७२	सर्वज्ञ बिना सर्वज्ञ का सर्वथा निर्णेन नहीं होता
१६२	पन्द्रह शिक्षणों की संख्या	१७३	शेवाश्रित स्वीकरण
१६३	विशेषण पन्द्रह वर्गों में	१७४	पात्राश्रित स्वीकरण
१६४	सर्वज्ञ सर्वसे भगवान का स्वभाव	१७५	व्यक्तिसंघी स्वीकरण
१६५	सर्वज्ञ द्वारा ही जीते जाते हैं	१७६	ज्ञानाभ्यास की कर्म
१६६	सर्वज्ञ नहीं बिना ही जीते जाते हैं	१७७	ज्ञानगुण सर्वथा पात्रा नहीं होता
१६७	पन्द्रह में से कोई एक कर्म ही जीते जाते हैं	१७८	ज्ञानगुण पर मोहनीय धर्म जिस प्रकार प्रभाव डालता है
१६८	पन्द्रह में से कोई एक कर्म ही जीते जाते हैं	१७९	सर्वज्ञ दर्शन की महत्ता का आरम्भ
१६९	पन्द्रह में से कोई एक कर्म ही जीते जाते हैं	१८०	ज्ञान विशेषण सर्वज्ञ नहीं

पृ. पं.	अक्षर	शब्द	पृ. पं.	अक्षर	शब्द
११	११	उम शान री	११७	९	नरिवाणि
११	१२	मम	११८	५	शी
११	१३	हो	१२०	९	और
११	२०	नरि	१२२	१	नामक
११	२	और	१२३	१	दयपत्र
१२	१६	मगी	१२३	९	इमतिम
१२	२	मम	१२५	६	उतदन
१२	१३	मगी	१२४	८	निकपय
१२	१५	मगी	१२६	३	आनरेत
१२	२१	मगी	१२८	१३	परीमान
१२	१३	मगी	१२६	१२	परीमान
१२	१४	मगी	१२७	१०	मगी
१२	१६	मगी	१२७	१	मगी
१२	१७	मगी	१२७	१	मगी
१२	१८	मगी	१२७	१	मगी
१२	१९	मगी	१२७	१	मगी
१२	२०	मगी	१२७	१	मगी
१२	२१	मगी	१२७	१	मगी
१२	२२	मगी	१२७	१	मगी
१२	२३	मगी	१२७	१	मगी
१२	२४	मगी	१२७	१	मगी
१२	२५	मगी	१२७	१	मगी
१२	२६	मगी	१२७	१	मगी
१२	२७	मगी	१२७	१	मगी
१२	२८	मगी	१२७	१	मगी
१२	२९	मगी	१२७	१	मगी
१२	३०	मगी	१२७	१	मगी
१२	३१	मगी	१२७	१	मगी
१२	३२	मगी	१२७	१	मगी
१२	३३	मगी	१२७	१	मगी
१२	३४	मगी	१२७	१	मगी
१२	३५	मगी	१२७	१	मगी
१२	३६	मगी	१२७	१	मगी
१२	३७	मगी	१२७	१	मगी
१२	३८	मगी	१२७	१	मगी
१२	३९	मगी	१२७	१	मगी
१२	४०	मगी	१२७	१	मगी
१२	४१	मगी	१२७	१	मगी
१२	४२	मगी	१२७	१	मगी
१२	४३	मगी	१२७	१	मगी
१२	४४	मगी	१२७	१	मगी
१२	४५	मगी	१२७	१	मगी
१२	४६	मगी	१२७	१	मगी
१२	४७	मगी	१२७	१	मगी
१२	४८	मगी	१२७	१	मगी
१२	४९	मगी	१२७	१	मगी
१२	५०	मगी	१२७	१	मगी

२. भगवती सूत्र

(हिंदी)

प्रथम भाग - विभाग - १ और २

३. भगवती सूत्र

भाग - ३

(गुजराती)

सर्व ग्रंथों के नाम पीछे वर्णोपित किये जायेंगे ।

सूरेश्वर की साहित्योपासना

द्रादगारनयचक

तत्तन्म्यारविमाकर

सम्मानितवयोपान

सूत्रार्थमुक्तवाङ्मयी

देवगणमर्मजयी

विन्दरंजन चतुर्भिर्गणितिका

स्वार्थि चतुर्भिर्गणितिका

भक्तार्थेन्द्राङ्गिका

उत्तराङ्गिका

विजयानन्द चतुर्भिर्गणितिका

भक्तार्थिचन्द्र (३३)

भक्तार्थिचन्द्र

सप्तमन्दिर चतुर्भिर्गणितिका

देवगणमर्मजयी

विजयानन्द चतुर्भिर्गणितिका

भक्तार्थिचन्द्र (३३)

देवगणमर्मजयी चतुर्भिर्गणितिका, चतुर्भिर्गणितिका

देवगणमर्मजयी

आत्मज्ञान ! तू तें अब भी बालशासन ही रहा लेकिन तेरे दुलारे तो
शासनप्रभात बन गये ।

सत्यमेव जयते कूल या 'जय' । इस कूलमें भक्ति, श्रद्धा और वैराग्य-
के सेन्धवार मंदज होते हैं । राज भी मद्ध अंशमें यह बात सत्य है ।

भाति महापुरुष काल सातवें महा जन्म ऐसे निर्मल वातावरणमें होने
खिला ही था ॥

‘अद्भुतपरिवर्तन’

मा के उत्तर में जयें ही यह भागज्जीन उत्तरोत्तर गभीर करता हुआ
आदि । जयें ही । अद्भुत धर्मों की चेष्टा करता है, लेकिन महान आत्मा-
का भावना विद्यमान होती है । जो केवल जय से नहीं, आत्मगुण में भी
अद्भुत के रूप में है । आत्मगुणों के विषय में भी वैसा ही बताया गया ।
जयें ही । जयें ही । अद्भुत के रूप में जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही ।
जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही ।
जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही ।
जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही ।

जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही ।
जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही ।
जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही ।
जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही । जयें ही ।

मदति बाप तबे माले' मे व्याख्यान देना छोड़ कर आत्मध्यान में ही संलग्न हो गये थे। फिर भी 'हार्दसार'-नयचक्र नामक महान जैन न्याय ग्रंथ के उद्घाटन समारोह में (२९-३-५९) आपने संस्कृत भाषा में व्याख्यान देने की व विरम विजयजी ने नेविगति की। तब आपने संस्कृत बाह्यवाह में चिन्तामणि को आभयमुष्ण बना दिया।

श्रेष्ठ उद्घाटनकार भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजागुरु ने कहा 'मैंने अपना दर्शन करके प्रयत्न प्राचीन कविता का साक्षात्कार का परमानंद प्राप्त किया है।'

एक समारोह में प्रपञ्च आचार्यदेव का शारीरिक तापमान १०१ था। 'मैंने' का शारीरिक तापमान की तापन दे' में भौतिक क्षेत्र को प्रभावित करने में प्रयत्न भी। करना ही होगा कि आप अब आस्था में वाता में। वस संतुष्ट, वस नदुस्ती।

१. 'मैंने' का प्रपञ्च आचार्यदेव के प्राणवृत्त आगम-मिस्त्रता की भावना थी।

१. 'मैंने' का प्रपञ्च आचार्यदेव के प्राणवृत्त आगम-मिस्त्रता की भावना थी। १. 'मैंने' का प्रपञ्च आचार्यदेव के प्राणवृत्त आगम-मिस्त्रता की भावना थी। १. 'मैंने' का प्रपञ्च आचार्यदेव के प्राणवृत्त आगम-मिस्त्रता की भावना थी।

आप बड़े श्रमकार भी थे लेकिन परमात्मा की वाणी तो मुँह जवान करनी ही चाहिये वह आपका आग्रह था। जब युवानस्थ स्वस्थ साधु या श्रान्त एक-महान तत्त्ववेत्ता या वह महान पुरुषार्थ देराते थे तब महान मूक उपदेश प्राप्त करते थे और वह महान प्रेरणा स्रोत से थोड़ी बुँदे मिलाकर जीवन सकल बनाने के लिये कृतप्रतिज्ञ बनते थे। ज्यों ज्यों देह शिथिल होता जाता था, त्यों त्यों आपकी स्नायवाय - तमझा गाढ़ बनती जाती थी। उपाध्याय गंगाविजयजी महाराज का 'अध्यात्म सार' आपने पूर्वविस्था में कंठस्थ ही कर लिया था और अतिन आस्था तब विरमृत नहीं हुआ था। इसके परिणामस्वरूप अतिम जीवन में 'उत्तराध्ययन' सूत्र से कंठस्थ करने का परम कर दिया था। महान वेदान्तपूर्ण यह श्रम के पठन-मनन-निर्गम से आपकी मन्त्रात्म्या और भी भैरवपूर्ण गनी थी। यह भास्वा में आप योग्य शिष्या के शिष्य पर उपागमकित देख कर निरुत्त हो गये थे।

आपने दर्शनार्थी 'मार्गके' धर्मग्रन्थ के मधुर स्वर से परिचित हो जाता था और कहते 'मार्ग' हो ता दो बार मीठे वाक्य सुनने का आनन्द भिन्न जाना जाता था, बिना यह भावना में आप अतिम कुछ वाचनीय नहीं करते थे, भावना ही आप में भी जाती रक्त पान विशेष नापमज था। रात्रि के दो-तीन बजे तक मधुन नींद में जाता होते थे या आचार्यजी की आशुताप से सुतुल्य नींद में टूट जाते थे। आपकी आशुताप की वस्तु में तो 'मार्ग' ही 'मार्ग' ही मजदूर बन जाते थे। जो भक्तनुमाता में आपका दर्शन हमें मिलता है, 'मार्ग' ही मजदूर बन जाते थे। 'मार्ग' ही मजदूर बन जाते थे। 'मार्ग' ही मजदूर बन जाते थे। 'मार्ग' ही मजदूर बन जाते थे।

‘मार्ग’ ही मजदूर

वैद्य लोग भी दंग हो जाते थे । वृद्धावस्था में कईवार आपको नींद नहीं आती थी तब आप आपकी आत्माको अनुसाशन करते थे 'हे जीव । तू किनसे प्रतीक्षा कर रहा है, नींद की ? किनना मूढ़ हो गया है, चैतन्यमय होकर भेज ड मद्दग-दशाको अज्ञानदशाको देखता है । निद्रा भी एक आत्मगुण विनाशकर्मकी पैदाश है, यह बात क्यों भूल जाता है ? 'स्वस्थ हो जा' और व वैराग्यमय वृद्ध देह में विराजमान जागृतआत्मा फिरसे स्वाध्याय ए ध्यानमें लीन हो जाता था । वैराग्यसमर आपका आत्मदल उत्तरोत्तर नि शंक अभिवृद्ध हो था ।

‘ क्रियाभिलाष ’

जास्त्रीय नियमों से अणिशुद्ध सयम पालन तीक्ष्णधार-तत्पार पर चलाने में भी अधिक दुष्कर है । सपूर्ण क्रियाओंका शास्त्रोक्त पालन मुश्किल होने पर भी एक आराधक आत्मा में क्रियाभिलाष होना परत जरूरी है । समस्त क्रियाओं की योग्यताके मने अर्थ में जीत नहीं हो सकते हैं तो आर्य तो कैसे क्या प्राप्तेगा ? आप में अपार क्रियानुराग भरा पड़ा था । इमरिते से आप श्रमियों में पोरिमि पड़ने जैसी छोटी छोटी क्रियाओंको भी करने भू होते नहीं थे । गीत दैहिक एव वोट अन्य कारणों से जो क्रिया आप की-दा में नहीं कर पाने में उनका रोद आपसे रोमरोम में भरा पड़ा था । मोटे अदोटे जिज्ञा निज को देखते ही आपके हृदय में आनंद भाग्य गुलफ्तन था ।

हम इसमें मजबूत आपसे पाने में नमकी सुझार पड़ी और तब ही ६० मई, १९०१ ई. में एक हा प्रारम्भिक रचना शरु कर दिया और प्राप्ति १९०१ ई. में ही प्रारम्भिक के नामसे प्रकाशित ।

इस में 'क्रियाभिलाष' शीर्षक 'क्रियाभिलाष' ।

मैं इतना प्रसिद्ध हूँ कि आप वाज भी कोई परिचित श्रावक से पूछेंगे कि आप आनन्द लक्ष्मिश्रीधरजी महाराज को जानते हो ? वह व्यक्ति आपको सत्य से प्रथम आनन्दध्वज का गुगलुराग का दृष्टत कथन किये बिना नहीं रह सकेगा , इस कारण मैं आप सों आराधक आत्माओं के लिये परम अक्षेप वन चुके थे ।

दिगंबर भाईओं के साथ सफल शास्त्रार्थ करनेवाले आचार्यगण को जब दिगंबर भाईयों भी गुरु मानकर सन्मान देने थे, तब तो कहना ही होगा कि उनके प्रसन्न भगवानुराग से आपकी मित्रता निग कभी व्यक्ति हरेद में या पुनश्च में परिणत नहीं होती थी ।

साधने रहनेवाले शिष्य भक्तिभाव में आपरा चित्त एवं आदर करी थे। हाँकि अन्ततः बहुत क्षणानुष्ठान करते प्रति वास्तव्य धरा करने में पूर्णतः मग्न रहता था। आपका बाल्यार्थ (देखा) के बाद जो विदियाँ ली जा चुकी हैं, उन सबमें वास्तव्य धरा है कि आप प्रत्येक अवस्था के क्षण में शिष्य मग्न पर आदर थे।

--- प्रत्यक्ष ही समझा है कि जहाँ जहाँ समाजों ने सही दिशा में
चला है वहाँ ही समाजों में सही दिशा में समाजों में सही दिशा में समाजों में सही दिशा में
सही दिशा में समाजों में सही दिशा में समाजों में सही दिशा में समाजों में सही दिशा में

“मः नक्षीलना”

लेकिन आप केवल महिलाकार ही नहीं किंतु वैराग्यवान भी थे। यही कारण था कि हम रहस्य को हम आचार्यवर्य के जीवन में अंकित हुआ देखते हैं।

तो या छोटे निम्ने 'क्षमायाचना' का संकेत आप के जीवन में कभी नहीं पाया गया था। भौतिक होने के कारण आप कतिपय विचारों के तीव्र आलोचक भी थे। फिर आप के भी कई आलोचक होना बहुत स्वाभाविक था। लेकिन 'सामान्य' समझ आने पर गच्छी को समझ लेते थे, 'क्षमायाचना' भी कभी थे तब आपके चहरे पर दुःख की एक रेखा या भाव तो साफ-साफ प्रतीत नहीं होता था।

वर्षा में (पेंसा) के दो तीन दिन पड़ते सभी आरक्षण और माउ
सर्पों को एकत्र करके अपने अपने 'क्षमायाचना' एव क्षमा प्रदान
करना पड़ता ।

प्रजापति जीव विज्ञान से किंग भी यह महान् कर्तव्य का पालन करना चाहते थे। विज्ञान का प्रसार किये बिना अपने अत्यन्त नम्रता से मन से शत्रु को दूर करी। अन्ततः प्रजापति स्वयं से शत्रुपक्षान् किया।

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

[illegible]

一、二、三、四、五、六、七、八、九、十、十一、十二、十三、十四、十五、十六、十七、十八、十九、二十、二十一、二十二、二十三、二十四、二十五、二十六、二十七、二十八、二十九、三十、三十一、三十二、三十三、三十四、三十五、三十六、三十七、三十八、三十九、四十、四十一、四十二、四十三、四十四、四十五、四十六、四十七、四十八、四十九、五十、五十一、五十二、五十三、五十四、五十五、五十六、五十七、五十八、五十九、六十、六十一、六十二、六十三、六十四、六十五、六十六、六十七、六十八、六十九、七十、七十一、七十二、七十三、七十四、七十五、七十六、七十七、七十八、七十九、八十、八十一、八十二、八十三、八十四、八十五、八十六、八十七、八十八、八十九、九十、九十一、九十二、九十三、九十四、九十五、九十六、九十七、九十八、九十九、一百。

३. "मत्स्य प्रदर्शन इस तरह से करना कि जिससे संघ में अशांति पैदा न हो । संघ समाधि के लिये व्यक्तिगत अभिप्रायों को कभी महत्त्व नहीं देना लेकिन शास्त्र से निरपेक्ष तो कभी भी नहीं होना ।"

४ जीवन में कभी भी किसी की निंदा नहीं करना यदि निंदा करने का प्रसंग था जाय तो मेरी याद करना और वैसे प्रसंग से बचते रहना ।

जो भी 'पामन प्रभावना' करता हो उसकी बिना किसी शर्तों पर अनुमोदना करना, प्रशंसा करना और सहायक सहयोग देने के लिये उत्तर देना ।

५. यद्यपि ज्ञान हम सबको तो मिला नहीं है लेकिन श्रद्धा एवं चारित्र्य में समान करना । ज्ञान यद्यपि जरूरी है ; तथापि चारित्र्य का साधक ज्ञान ही साधक है, यह कभी नहीं भूलना ।

६ प्रत्येक नया कार्य को बिना नहीं लेकिन प्रायः पुण्या (निर्वा) के लिये करनी पड़ेगा ।

७. ईश्वर का धर्म बिना है पर ने धर्मयुक्त के कारण जो ईश्वर का धर्म है वह धर्मयुक्त का धर्म है । धर्मयुक्त का धर्म है ईश्वर का धर्म है जो धर्म है ईश्वर का धर्म है । धर्मयुक्त का धर्म है ईश्वर का धर्म है । धर्मयुक्त का धर्म है ईश्वर का धर्म है ।

“ अंतिम वाक्य ”

“मत्स्य प्रदर्शन इस तरह से करना कि जिससे संघ में अशांति पैदा न हो । संघ समाधि के लिये व्यक्तिगत अभिप्रायों को कभी महत्त्व नहीं देना लेकिन शास्त्र से निरपेक्ष तो कभी भी नहीं होना ।”

“एक भावना”

आचार्यजी की स्मृति पर अधुनिकों का प्रसन स्वाभाविक है। लेकिन मुसलमानों के विद्वानों जिन्होंने अन्तर्गत गरीब मजदूरों के पवित्र जीवन चरित्र के सम्बन्ध में कुछ भी सुन नहीं जाना, वे प्रयत्न नफरत हो जायेंगे।

मुसलमानों आचार्यजी का जैसा परिचय मिले हो चुका हो, पर अत्यन्त परिचित नहीं हो सका है। हमारी सामान्य प्रज्ञा और चारित्रिक मर्यादा केवल एक ही पुरानी कविता के और हर्षित दृश्य में अवलोकित हो रही है।

शुणानुसारी अनुपम योगीराज
महात्मा श्री शुक्लेश आचार्य भगवंत
विजय लक्ष्मीश्वरजी महाराज के
पवित्र मरणादिक में जनन धर्मान्वयी

गुरुदेव का गुणानुवाद साहित्य

मृत्युक्षण महोत्सव काव्यम्	पू. आ. भुवनतिलकसूरि म.
कविकुलकिरीट याने सूरिशेखर भा. १	क्रमाटी
कविकुलकिरीट याने सूरिशेखर भा. २	क्रमाटी
व्रण प्रभावक पुरुष	क्रमाटी
चमल पराग	लब्धिशिशु
सूरीधरजीनो जीवन महेल	लब्धिशिशु
प्रभावक सूरिदेव	घी. टो. शाई
बन्धाग स्मृति विशेषांक	
मेरममाज स्मृति विशेषांक	

ज्यों की गर्वया क्षीण करके अपनी आत्मा में स्वभाव से स्थित केवल ज्ञान प्राप्त किया। केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव-सिद्ध गुण है। सभी आत्माओं में यह गुण होता ही है। सभी आत्माओं में यह गुण होने पर भी बलिहारी उनको है, जो उसे प्राप्त करता है। आत्मा का स्वभाव ज्यों में व्यक्त है। इस अवरोध (बाधरण) की उपमा दीनक के छतार की टकान से दी जा सकती है। कर्म का आपत्त नष्ट हुआ कि, अनन्त ज्ञानरसि प्राप्त हुई।

उस रूप के पटन से और धरण से भी आत्मा के स्वभाव के मार्ग में जाने वाले बाधरण नष्ट हो जाते हैं। भगवान्

भगवद्गीता श्री भगवद्गीता १, पं. १०० अ — १०८ अ) कथञ्चन
मतेः ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥ १०५ ॥ १०६ ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

१०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥ १०५ ॥ १०६ ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

१०९ ॥ ११० ॥ १११ ॥ ११२ ॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ ११७ ॥ ११८ ॥

११९ ॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥ १२४ ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

१२९ ॥ १३० ॥ १३१ ॥ १३२ ॥ १३३ ॥ १३४ ॥ १३५ ॥ १३६ ॥ १३७ ॥ १३८ ॥

१३९ ॥ १४० ॥ १४१ ॥ १४२ ॥ १४३ ॥ १४४ ॥ १४५ ॥ १४६ ॥ १४७ ॥ १४८ ॥

१५० ॥ १५१ ॥ १५२ ॥ १५३ ॥ १५४ ॥ १५५ ॥ १५६ ॥ १५७ ॥ १५८ ॥

वाक्यजी, ५. श्री सुधर्मास्वामीजी, ६. श्री मण्डितजी और ७ श्री मौर्यपुत्रजी] द्वारा रचिता द्वादशाङ्गी में शब्द की अपेक्षा ने परस्पर भिन्नता थी । श्री अकम्पित गणधर-भगवान् और श्री अनन्तशान्तानन्दधर-भगवान्-रचित द्वादशाङ्गियों में परस्पर साद्विक भिन्नता नहीं थी । पर, प्रथम सात गणधरों की द्वादशाङ्गियों से तुलना करने पर श्री अकम्पित और श्री अचल-भान्त-नामक गणधर-भगवानों की रची हुई द्वादशाङ्गी की शब्द-रचना प्रथम सात द्वादशाङ्गियों की अपेक्षा भिन्न थी । इसी प्रकार श्री मेतार्थ और श्री प्रभास-नामक गणधर-भगवानों के द्वादशाङ्गियों में साद्विक वैभिन्न्य न होने पर भी, प्रथम सात गणधरों और आठवें तथा नवें गणधर-भगवानों की द्वादशाङ्गियों से साद्विक भिन्नता थी । इन प्रकार पहले सात गणधर-भगवानों द्वारा रची या गाय द्वादशाङ्गियाँ हुई । आठवें और नवें गणधर-भगवानों की द्वादशाङ्गियों में परस्पर साद्विक वैभिन्न्य न होने के कारण वे पूर्व आठवें तथा नवें द्वादशाङ्गियों माने जाती हैं । इन साठ

१-अथ श्री भगवतीजी-सूत्र-व्याख्यानम् ।

प्रथम-गणधर-भगवतः श्री सुधर्मास्वामीजी ॥ १-१३ ॥

द्वितीय-गणधर-भगवतः श्री मण्डितजी ॥ १-१४ ॥

तृतीय-गणधर-भगवतः श्री मौर्यपुत्रजी ॥ १-१५ ॥

चतुर्थ-गणधर-भगवतः श्री अकम्पितजी ॥ १-१६ ॥

पञ्चम-गणधर-भगवतः श्री अचल-भान्तजी ॥ १-१७ ॥

षष्ठ-गणधर-भगवतः श्री मेतार्थजी ॥ १-१८, १९ ॥

सप्तम-गणधर-भगवतः श्री प्रभासजी ॥ १-२०, २१ ॥

की आत्मा में स्थित द्वादशाङ्गी की रचना करने का बद्धभुव नाम्नी प्रकट होता है। कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि, भगवान् श्री जितेश्वर-देव द्वारा उद्यत त्रिपदी में ऐसा क्या सामर्थ्य है कि, त्रिपदी प्राप्त करते ही, गणवर भगवान् द्वादशाङ्गी की रचना कर सकते हैं और त्रिपदी प्राप्त किये बिना वे द्वादशाङ्गी की रचना नहीं कर सकते ? यह विचार करने योग्य बात है। ऐसा है कि, भगवान् 'तीर्थ' की स्थापना करते हैं। उसके बाद गणवर भगवान्, भगवान् श्री जितेश्वर-देव की एक प्रदक्षिणा करते हैं और मार्ग के वर्ण में समझकर करके भगवान् से पूछते हैं—'भो जितने ?' गणवर भगवान् के इस प्रथम प्रश्न के उत्तर में भगवान् श्री जितेश्वर-देव कहते हैं—'उपनिदे वा !'। इस उत्तर के द्वारा भगवान् श्री जितेश्वर-देव द्वारा के पर्याय के ज्ञान से विज्ञान को व्यक्त करते हैं। भगवान् श्री जितेश्वर द्वारा दी गयी उत्तर की सुनकर गणवर-भगवान् इस विषय में विचारणा करते हैं। श्री जितेश्वर-देव के उत्तर के सम्बन्ध में विचारणा करते हुए गणवर भगवान् की अधिक पूछने की आवश्यकता नहीं रहती है। तब श्री गणवर भगवान् फिर

॥ श्री गणवर भगवान् श्री जितेश्वर-देव की आज्ञा से १४० अक्षर
॥ १४० ॥

॥ श्री गणवर भगवान् श्री जितेश्वर-देव की आज्ञा से १४० अक्षर
॥ १४० ॥
॥ श्री गणवर भगवान् श्री जितेश्वर-देव की आज्ञा से १४० अक्षर
॥ १४० ॥

मास्तन में 'निपद्यात्रय' आदि नामों से कहा जाता है। भगवान् श्री जिनेश्वर देव पहली बार 'उप्पन्नेइवा' दूसरी बार 'धिग-मेइ चा' और तीसरी बार 'धुवेइ वा' कहते हैं। ये तीन उत्तर टैन-मास्तन में 'त्रिपदी' संज्ञा से जाने जाते हैं। भगवान् श्री जिनेश्वर देव श्रीमुक्त से उच्चरित त्रिपदी के श्रवण से गणघर-भगवानों का गणघर-नाम कर्म उदय होता है। और, उनका मानावरणीय कर्म का क्षयोपसम इतनी सुन्दर रीति से होता है

१—ताम्रपत्र सूत्र मंत्रिक ज्ञाना १०, उ० ३, सूत्र ७२७ में 'माउयाणु-ओमे' आता है। उसकी रीति करने हुए टीकाकार ने कहा है—

'माउयाणुओमे' ति माउयेव माउता अवापनपुनरस्योपादव्ययधौज्य-स्थाना वदन्ती तस्मा *

हेति । * तर्कपुरा अध्याय ५, सूत्र २१ (उपादव्ययधौज्य-गुणं मय) तथा माउययव मन्त्रे, भाग ५, उद्देशा ९, सूत्र २२५ (माउयेव माउता वदन्ती)

२—'तिम' का 'समुद्रव्यवृत्ति', पृ० १ पृ० मर्म ५, श्लोक १६५ ।

३—'ताम्रपत्र' सूत्र मंत्रिक ज्ञाना १०, उ० ३, सूत्र ७२७ में 'माउयाणु-ओमे' आता है। उसकी रीति करने हुए टीकाकार ने कहा है—

४—'ताम्रपत्र' सूत्र मंत्रिक ज्ञाना १०, उ० ३, सूत्र ७२७ में 'माउयाणु-ओमे' आता है। उसकी रीति करने हुए टीकाकार ने कहा है—

अथवा विनाश होता है, यदि यह कहा जाये तो प्रथम संशय यह पैदा होता है कि, जो उत्पन्न ही नहीं है, उसका विनाश कैसे सम्भव है ? विनाश अथवा विगम तो उसका होता है, जो ज्ञान हुआ रहता है । कोई वस्तु उत्पन्न होने से पूर्व विनाश को प्राप्त करे, यह कैसे सम्भव है ? और, विनाश प्राप्ति ही तत्त्व तो, तो जगत् का अस्तित्व कैसे सम्भव हो सकता है ? जिसका जन्म होता है, उसही मृत्यु होती है—जिसका जन्म ही न हो, उसही मृत्यु भला क्या होगी ? इसीलिए, भगवान् ने पहले 'उत्पन्नेऽवा' उत्तर दिया और फिर दूसरे प्रश्न के उत्तर में 'विगमेऽवा' कहा । यही उक्ति भी था । कुछ लोग कहते हैं—“‘शुद्धे वा’” यह उत्तर पहले प्रश्न के उत्तर में क्यों नहीं आया ? यदि प्रथम प्रश्न के उत्तर में ‘शुद्धे वा’ भगवान् कहते, तो भी अन्तर्गत में उत्तर होता । एक तो जगत् की उत्पत्ति और विनाश स्पष्ट होना पड़ा है, फिर भी यदि भगवान् कहते कि शुद्ध हुआ है, तो परमेश्वर विरोध होता । यदि मान धृष्टा हो, तो फिर कर्म करने की आवश्यकता क्या थी ? क्योंकि कारण भगवान् कहते उत्पत्ति-कृतक 'उत्पन्नेऽवा' कहा । पहले भगवान् उत्पत्ति-सूत्र उत्तर दिया और फिर विगम-सूत्र के उत्तर दिया । इस प्रकार उत्पत्ति और विनाश मूलित करने के बाद भगवान् उत्पत्ति-सूत्र उत्तर दिया । अन्त में उत्पत्ति और विगम दोनों का उत्तर करने में अतिशय हो जाती है । अन्त में उत्पत्ति और विगम दोनों का उत्तर हो जाती है, जो अन्त में है, जो

भगवानों में पूर्ण आयुष्यवाले गणधर-भगवान श्री सुघर्मास्वामी जी ही थे ।

प्रथम गणधर-भगवान् श्री गौतम स्वामीजी का कुल दीक्षा-पर्याय ४२ वर्ष का था, जिसमें ३० वर्ष का छत्रस्थ-पर्याय और १२ वर्ष का केवली-पर्याय था ।

द्वितीय गणधर-भगवान् श्री अग्निभूति का कुल दीक्षा-पर्याय २८ वर्ष का था; जिसमें १२ वर्ष का छत्रस्थ-पर्याय और १६ वर्ष का केवली-पर्याय था ।

तृतीय गणधर-भगवान् श्री वायुभूति का कुल दीक्षा-पर्याय २८ वर्ष का था; जिसमें १० वर्ष का छत्रस्थ-पर्याय और १८ वर्ष का केवली-पर्याय था ।

चतुर्थ गणधर-भगवान् श्री व्यक्तस्वामीजी का कुल दीक्षा-पर्याय ३० वर्ष का था, उसमें १८ वर्ष छत्रस्थ-काल था और १२ वर्ष केवली-काल ।

पंचम गणधर-भगवान् श्री सुघर्मास्वामीजी का कुल दीक्षा-पर्याय ५० वर्ष का था, जिसमें ४२ वर्ष छत्रस्थ-काल था और ८ वर्ष केवली-काल था ।

षष्ठ गणधर-भगवान् श्री मणिरत्नस्वामीजी का कुल दीक्षा-पर्याय ५० वर्ष का था, जिसमें ४२ वर्ष छत्रस्थ-काल और ८ वर्ष केवली-काल था ।

सप्तम गणधर-भगवान् श्री मोहिनिरत्नस्वामीजी का कुल दीक्षा-पर्याय ५० वर्ष का था, जिसमें ४२ वर्ष छत्रस्थ-पर्याय और ८ वर्ष केवली-पर्याय था ।



सिद्धान्त तथा उसकी वृत्ति उच्छेद को प्राप्त होने लगी। उनमें जो सूत्र बच गये थे, उनका सव्दार्थ भी प्रेक्षानिपुण मुनियों के लिए दुर्बोध हो गया।

जब शासो की यह स्थिति थी, तो उसी काल में एक ब्रह्म ऐसा हुआ कि, शासन-देवी आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी महाराज के पास आयी।

मध्यरात्रि का समय था। मध्यरात्रि के समय भी श्रीम अभयदेवसूरिजी महाराज सावधानी से धर्मध्यान में मगल रहते थे।

शासन-देवी ने उनकी नमस्कार किया और कहा—
“श्रीमद्भगवद्गीता-नाम के आचार्य ने पहले ११ अङ्गसूत्रों की वृत्ति बनायी थी। उनमें अब केवल २ अङ्गसूत्रों की वृत्तियाँ उपलब्ध हैं। और, ९ अङ्गसूत्रों की वृत्तियाँ दुष्काल के कारण उच्छेद प्राप्त हो गयी हैं। इसलिए, श्रीमद्भगवद्गीता पर अनुग्रह करके आप ९ अङ्गसूत्रों की वृत्ति रचें, जिनकी वृत्तियाँ अब उच्छेद को प्राप्त हो गयी हैं।”

शासन-देवी के इस सूचन से, श्री अभयदेवसूरिजी महाराज ने ९ अङ्गसूत्रों की वृत्ति रच दी। ११ अङ्गसूत्रों की वृत्ति रचने की वृत्ति उनकी शक्ति से ही मिली थी। उनमें इस बात की सहायता मिली कि, वे ९ अङ्गसूत्रों की वृत्ति रचें, जिनकी वृत्तियाँ अब उच्छेद को प्राप्त हो गयी हैं।

समय कोई सुविहित मुनि वहाँ जाने की कभी हिम्मत करता तो लोग उसे उतरने के लिए स्थान नहीं देते थे। यदि कोई उन्हें स्थान दे देता, तो चैत्यवासी आचार्य राजसत्ता का आश्रय लेकर उने परेशान किये बिना नहीं रहते।

चैत्यवासी आचार्यों की ओर से सुविहित मुनियों को जो कठिनाइयाँ उपस्थित की जाती, उससे श्री वर्द्धमानसूरिजी महाराज को भयङ्कर कष्ट होता। सुविहित मुनियों का विहार निरुपद्रव हो, उनकी उनके हृदय में उत्कट अभिलाषा थी। क्योंकि सुविहित मुनि-मार्ग के प्रति उनके हृदय में अटल राग था। चैत्यवासी आचार्यों की ओर से सुविहित मुनियों के मार्ग में रोगा बटाना रोकने के लिए श्री वर्द्धमानसूरिजी स्वयं तो गुप्त कर सतने में समर्थ नहीं थे, पर यदि कोई समर्थ व्यक्ति मिल जाये तो वह कठिनाइयाँ दूर करने की सलाह दिए बिना न रहते। जग में, उनकी रक्षा पूरी हुई और उन्हें अपने ही समान समर्थों की शिष्य भी मिल गये।

एक बार आचार्य श्री वर्द्धमानसूरिजी भव्य आत्माओं की शिष्यों का एक दल घाटा नगरी में पहुँचे। उस समय घाटा नगरी में अन्धीयों का नामक एक महामानव व्यक्ति रहता था। वह भी अन्धीयों का धर्म का उपासक था। उस भेड़ के धर्म में वह भी अन्धीयों का नाम का आश्रय गुरुत्व रखते थे। ये लोग अन्धीयों के लिए बहुत कुछ शिक्षा और सुख बढ़ाते थे। उनके धर्म के लिए वे बहुत कुछ देना देना आनन्द ले लेंगे। एक दिन वे सब लोग मिल गये, सब देना देना करने लगे।

है या अपनी दूकान की गद्दी के काम में लगाने का मन होता है ? दूकान-गद्दी आदि तो इस भव की चीजे हैं, वे पुण्योदय के आधीन हैं और पाप के कारण-स्वरूप हैं, पर शासन की आगधता तो भवोभव के लिए उपयोगी और कल्याणकारी है । इसमें तो जो जोड़े उसका भी कल्याण और जो जोड़ाये उनका भी कल्याण ! ऐसा होने पर भी आपका विचार किस ओर जाता है ?

गङ्गोपनि नेठ यह देवता रहा कि, उसका विचार कार्य-रूप में कैसे परिणत हो ? इनने में आचार्य श्री वर्द्धमानसूरीजी महाराज धारा-नगरी में पधारे । सेठ को लगा कि, जिन दिन की राह देग रहा था, वह दिन आ गया । सेठ जब गुरुमहाराज की वन्दना करने गया, तो वह श्रीधर और श्रीपति नामक ब्राह्मण सुवर्णों को भी साथ लेना गया ।

आचार्यजी श्री वर्द्धमानसूरीश्वरजी के निकट पहुँच कर सेठ ने सर्व 'निमग्न' पूर्ण आचार्यजी की वन्दन किया । उसके बाद

१. श्री गुरुदेव की आज्ञा, २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००.

१. श्री गुरुदेव की आज्ञा, २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००.

१. श्री गुरुदेव की आज्ञा, २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००.

१. श्री गुरुदेव की आज्ञा, २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००.

सागरसूरिजी ने ८ हजार श्लोक प्रमाण का एक नया व्याकरण रचा । यह व्याकरण बुद्धिसागर नाम से प्रसिद्ध हुआ । इससे आप कल्पना कर सकते हैं कि ये दोनों कितने समर्थ थे ।

यह सब तो बाद की बात है । इनसे पूर्व की बात तो यह है कि, आचार्यश्री वर्द्धमानसूरिजीने अपने दोनों शिष्यों को अपनी महेच्छा की मूर्चना दी । आचार्यपद देने के बाद, उनके पण्डित विहार करने की आज्ञा देते हुए श्री वर्द्धमानसूरिजी ने उनसे कहा—'पाटन के चैत्यवासी आचार्य सुविहित साधुओं को वहाँ रहने नहीं देते और हैरान करते हैं । सुविहित साधुओं का यह कह तुम दोनों को अपनी शक्ति और बुद्धि से निवारण करना है, क्योंकि इस कार्य में तुम दोनों ही समर्थ हों ।'

जाने मुक्त की आज्ञा निरोधार्य कर श्री जिनेश्वरसूरिजी तथा श्री बुद्धिसागरसूरिजी ने नुस्त गुजरात की ओर विहार किया और वे दोनों ही पण्डित पाटन पहुँचे । अपनी विद्वत्ता और परिभा के आधार पर एक विद्वान् पुरोहित के यहाँ उन्होंने आश्रय प्राप्त किया । निरोधवासी आचार्य की ओर में वहाँ पहुँचते ही, वे पुरोहित ने राजमना में जाकर सारी बातें बतली । वे वदसों आचार्यों ने राजा में अपने अवितार की बातें बतली । यह राजा ने उन दोनों आचार्यों को पाटन में रहने का आदेश देता जो वे पण्डित आचार्यों को भी राजाजी के पास जाने से मना । बाद में वे, पुरोहित ने राजा के पास जाकर यह बातें बतली । राजा ने उन दोनों आचार्यों को राजा के पास रहने का आदेश दे दिया ।

का नाम धनदेवी था । उन्हें अभयकुमार-नामक एक पुत्र था ।
बचपन से ही यह अभयकुमार गुणनिष्पन्न था ।

भगवान् श्री महावीर परमात्मा के शासन में अभयकुमार का नाम बहुत ही प्रसिद्ध है । अभयकुमार-नाम आते ही ही श्री श्रेणिक-पुत्र अभयकुमार का नाम स्मरण हो जाता है । उस अभयकुमार और इस अभयकुमार दोनों ने ही इस शासन में भिन्न-भिन्न रीति से अच्छी ख्याति प्राप्त की । एक की ख्याति उनके संसारीपना के नाम पर अभयकुमार के नाम से और दूसरे की ख्याति अभयदेवसूरिजी के नाम से है । यह दूसरे अभयकुमार जो अभयदेवसूरिजी हुए 'नवागो-टीकाकार' के नाम से विख्यात हैं ।

ले अभयकुमार निम्न प्रकार नवागो-टीकाकार श्री अभय-
देवसूरिजी बने, जब उनकी कहानी सुनिये ! जब आचार्य
श्री विनेश्वरसूरिजी घारा-नगरी में पधारे, तो महीवर सेठ अपने
पुत्र अभयकुमार को साथ लेकर उनको बंदन करने गया ।
उन गुरुदेवसूरिजी के शिष्य में पिता-पुत्र ने संसार की
वस्तुओं के सम्बन्ध में कथन सुना ।

गुरुदेव : अरे ! यह क्या कहा होगा ? यही कि,
मोक्ष मोक्ष है ! यह क्या देने मोक्ष है ! मोक्ष मर्त्यमोक्ष
है ! यह क्या कहा है ! श्री भगवान् द्वारा प्रतिपादित विरति-

मोक्षमोक्षं विना मोक्षो न भवति । मोक्षमोक्षं विना मोक्षो न भवति ।
मोक्षमोक्षं विना मोक्षो न भवति ।



पडाया । इस प्रकार वे बड़े दृढ क्रियानिष्ठ और शास्त्रज्ञ बने । उन समय उनके दादा गुरु आचार्य श्री वर्द्धमानसूरिजी भी वहाँ विराज रहे थे । श्री वर्द्धमानसूरि ने उन्हें आचार्य पद के योग्य समझा और श्री जिनेश्वर सूरिजी को अपने शिष्य अभय मुनि को सूरि-पद से प्रतिष्ठित करने का आदेश दिया । अपने गुरु महाराज की आज्ञा प्राप्त करने पर, आचार्य श्री जिनेश्वरसूरिजी ने अपने शिष्य अभयमुनिजी को सूरिपद पर प्रतिष्ठित किया और तब से वे मुनि महाराज अभयदेवसूरिजी के नाम से विख्यात हुए ।

ध्यान देने की बात है कि, इतनी भव्य वरासत प्राप्त होने पर भी और स्वयं समर्थ जानी होने पर भी, शासन-देवी को उत्तर देने हुए अभयदेवसूरिजी महाराज ने क्या कहा ? कहा था—“मैं अल्पमति (जड़ समान) और अल्पज्ञ हूँ ।” ऐसा कहना उनको विनम्रता और निरहंकारता है । इस उत्तर से स्पष्ट है कि, वे ज्ञाने सम्भीर थे ? उन्होंने कहा—“अज्ञा-सूत्रों की पूर्ति करने की श्रुति मेरी शक्ति नहीं है ।” पर, उन्होंने सूत्रों की पूर्ति के लिए नानाग्रन्थों को उत्तर नहीं दिया । और, शासन-देवी से तो उसका स्पष्टीकरण चाहा ।

शासन-देवी ने अभयदेवसूरिजी महाराज को क्या गुस्सा किया ? वह कहा—“हे मुनिगोत्रिणि । निज्ज्ञान के लिये तू क्या विचारणा करने की तापने सोचता है, तू ?” अर्थात् तू जो तत्त्वज्ञान पर जी मर्दि किसी स्वरूप पर विचार करता है, तू पर मैं स्वयं विचारणा करिदिगा । मैं उत्ति-

यह बात यदि आप की दृष्टि में हो, तो मूल-सूत्र के प्रति जैसा भक्ति-भाव आप में है, वैसा ही भक्ति भाव टीका के प्रति भी रहेगा। इसीलिए, श्री अभयदेवसूरिजी महाराज से सम्बन्धित इतनी बाने मैंने आपसे कही।

शामन-देवी की प्रेरणा की बात दन्तकथा नहीं

नवागी-टीकाकार आचार्य भगवान् श्रीमद्भयदेवसूरीश्वर-जी महाराज ने शामन-देवी से प्रेरणा प्राप्त करके अंग-सूत्रों की रचना की, ऐसा श्री प्रभावकचरित्र के रचयिता श्री प्रभाचन्द्र-मृन्मिजी ने लिखा है। श्री अभयदेवसूरिजी सम्प्रन्धी प्रबन्ध को पढ़कर एक आधुनिक मुनिश्री ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है—“पञ्च के लोग के अनुसार अभयदेव के समय में नर अंग सूत्रों पर कोई टीका विद्यमान नहीं थी। इसी कारण अभयदेवसूरि ने नयी टीका रची। पर, अभयदेवसूरि के शिष्यिण प्रमाण के अनुसार उस समय प्राचीन टीकाएं विद्यमान थी। उदाहरण के रूप में कहे, श्री भगवतीजी सूत्र की टीका में उस समय श्री भगवतीजी सूत्र पर दो प्राचीन टीकाएं थीं यह बात बतलती है। इसी प्रकार अन्य सूत्र पर भी टीकाएं विद्यमान थीं। श्री भगवतीजी सूत्र के टीकाकारों के नाम भी मिलते हैं, जिनमें श्रीमद्भयदेवसूरिजी महाराज ने शामन-देवी के आदेश पर टीका लिखी है। इस बात का उदाहरण आप देख सकते हैं।”

इस प्रकार यह बात बतलती है कि शामन-देवी से प्रेरणा लेकर अभयदेवसूरिजी महाराज ने टीका लिखी। इसीलिए श्री भगवतीजी सूत्र की टीका में श्री अभयदेवसूरिजी महाराज के नाम का उल्लेख है।

चरित्र में वर्णित शासनदेवी के प्रेरणा की जो बात कही है, वह ठीक है ?

मुनिश्री के कथन को उचित मानने के लिए पहला यह उपस्थित होता है कि, "अंग सूत्रों पर टीका होने के बाद, अभयदेवमूरिजी महाराज ने अंग सूत्रों पर जो टीका लिखी, उनका क्या कारण था ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रायः यह कहा जाता है—'कम विद्वान् मुनियों को भी निराशा ने सूर में मूर्खता तथ्य समझ में आ जाये, इस कारण मैं इस टीका की रचना की'—ऐसा स्पष्टीकरण श्री अभयदेवमूरिजी महाराज ने स्वयं किया है ।

इस स्पष्टीकरण को मानने में दूसरा प्रश्न यह उठता है कि 'तो फिर अभयदेवमूरि ने ११ अंगों की टीका न करके केवल ९ अंगों की ही टीका क्यों की ?' इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाये कि, ६ अंगों की टीका समाप्त करने के बाद उनके रक्त-विषाद का कष्ट हो गया और इस कारण वे शेष दो अंगों की टीकाएं नहीं रच सके, तो यह कल्पना अत्यन्त गरीब होगी । कारण कि, ९ अंगों की टीका के बाद, उन वृत्तियों की महाशुद्धि के लिये जो योग्य, किन्तु उनकी प्रतीक्षा तैयार की गयी थी, वे योग्य नहीं थे । अभयदेवमूरिजी महाराज को रक्त-विषाद का कष्ट था । यह रक्त-विषाद का योग भी कुछ ही बाद में ही मिट गया । बाद के अक्षरों में आचार्य अभयदेवमूरिजी महाराज ने यह स्पष्ट किया है कि वे योग्य नहीं थे ।

श्रीलाङ्काचार्य की ११ अङ्गों की टीकाएं यदि आचार्य अभयदेव सूरिके समय में विद्यमान होती तो श्री अभयदेवसूरि या तो किसी भी अङ्ग की टीका न बनाते और बनाते भी तो ११ अङ्गों की बनाते। नव अङ्गों पर टीका रचने के बाद अभयदेवसूरिजी महाराज ने श्री पञ्चाशक जी आदि अनेक प्रकरण-ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी और आगम-अष्टोत्तरी आदि प्रकरण-ग्रन्थों की रचना की। इससे यह सिद्ध होता है कि, अभयदेवसूरिजी महाराज की इच्छा प्रथम दो अङ्गों को छोड़कर शेष ९ अङ्ग सूत्रों की ही टीका करने की थी। श्री श्रीलाङ्काचार्य रचित दो अङ्ग-सूत्रों की टीकाएं उस समय विद्यमान थी और शेष ९ अङ्गों की टीकाएं उम समय विच्छेद को प्राप्त हो चुकी थी।

यह स्वीकार करने योग्य नहीं है कि, 'श्री श्रीलाङ्काचार्य जी महाराज की प्रथम और द्वितीय अङ्ग-सूत्रों की टीकाएं विस्तृत थीं, इन हेतु ये टीकाएं अपमान वाले मुनिराजों को सुनाने के लिये की गयीं प्रकाश समझा सकने में समर्थ थीं; पर शेष ९ अङ्ग-सूत्रों की उनकी टीकाएं ऐसी थी कि, उन टीकाओं में अपमान मानने को सुनने से श्रवण का बोर उनमें नहीं हो सकता था। इन कारण, श्री अभयदेवसूरिजी महाराज ने प्रथम दो अङ्गों को छोड़कर शेष ९ अङ्ग-सूत्रों की विस्तृत टीकाओं की रचना की।'

इस रूप में विचार करने से, श्री प्रभाकर-वर्मा में प्रमाण मिलता है कि श्री देवता की स्तुति का प्रमाण होता है और श्री देवता की स्तुति की स्तुति का प्रमाण होता है।

— 10 —
— 11 —
— 12 —
— 13 —
— 14 —
— 15 —
— 16 —
— 17 —
— 18 —
— 19 —
— 20 —
— 21 —
— 22 —
— 23 —
— 24 —
— 25 —
— 26 —
— 27 —
— 28 —
— 29 —
— 30 —
— 31 —
— 32 —
— 33 —
— 34 —
— 35 —
— 36 —
— 37 —
— 38 —
— 39 —
— 40 —
— 41 —
— 42 —
— 43 —
— 44 —
— 45 —
— 46 —
— 47 —
— 48 —
— 49 —
— 50 —
— 51 —
— 52 —
— 53 —
— 54 —
— 55 —
— 56 —
— 57 —
— 58 —
— 59 —
— 60 —
— 61 —
— 62 —
— 63 —
— 64 —
— 65 —
— 66 —
— 67 —
— 68 —
— 69 —
— 70 —
— 71 —
— 72 —
— 73 —
— 74 —
— 75 —
— 76 —
— 77 —
— 78 —
— 79 —
— 80 —
— 81 —
— 82 —
— 83 —
— 84 —
— 85 —
— 86 —
— 87 —
— 88 —
— 89 —
— 90 —
— 91 —
— 92 —
— 93 —
— 94 —
— 95 —
— 96 —
— 97 —
— 98 —
— 99 —
— 100 —

वात अवश्य हुई, जिसने श्रीअभयदेवसूरि जी महाराज को वेचैन बना दिया। यह वात नहीं कि, वह गोक के कारण वेचैन हो गये, पर उन्हें शरीर-त्याग की इच्छा अवश्य हो गयी।

कारण यह था कि, ईर्ष्यालु लोगों ने यह झूठा पचार कर दिया कि, 'उत्सूत्र के कथन से क्रुपित शासन-देवता ने इन वृत्तिकार को बुध्द-रोग उत्पन्न कर दिया है।' इस प्रकार के प्रचार ने प्राट रूप में दो लक्ष्य थे। एक तो यह कि, श्रीअभयदेवसूरि जी महाराज के प्रति चतुर्विध श्रीसङ्घ में अनारर भाव प्रवृत्त हो। इसका कारण स्पष्ट था कि, चतुर्विध श्रीसङ्घ उत्सूत्र-प्रवक्ता के प्रति आदर-भाव रखने वाला नहीं था। चतुर्विध श्रीसङ्घ की तो मान्यता यह थी कि, 'उत्सूत्र के प्रति महज नम्रता मात्र महापाप का कारण है और ऐसे व्यक्ति के दर्शन मात्र में महापाप है।' ऐसे विचार के कारण उस मिथ्या प्रचार का एक फल यह था कि, 'चतुर्विध श्रीसङ्घ मह मान ले कि, 'श्रीअभयदेवसूरि जी महाराज ने उत्सूत्र-प्रवक्ता की तुलना में अधिक उम्मेद में श्रीअभयदेवसूरि जी महाराज के प्रति अनारर भाव महज ही हो जायेगा। और, दूसरा फल यह था कि, श्रीअभयदेवसूरि-महाराज की वृत्ति चतुर्विध सङ्घ में अनारर भाव प्रवृत्त हो कर और श्रीसङ्घ उन्हें नष्ट कर जाये।

परन्तु इस प्रकार की भी क्या लाभ प्राप्त जा सकता है?

उत्सूत्र के कथन से कि व्यक्ति को उम्मीद प्रचार के कारण ही उत्पन्न होती है। उस उम्मीद का भी क्या नि-

व्यक्ति को इतना तो ध्यान में रखना ही चाहिए कि, अहङ्कार और ममत्व उसे ईर्ष्यालु न बनाने पाएँ। ईर्ष्या आने से गुणवान् के गुण परखने की शक्ति नष्ट हो जाती है। गुणानुराग न रहने पर दया भाव समाप्त हो जाता है। ईर्ष्यालु तो अपने और पराये दोनों के हितों का घातक बनता है। ऐसा होने पर भी, एग जगत में ईर्ष्या का साम्राज्य काफी विस्तृत है। ईर्ष्या के कारण आज चतुर्विध श्रीसङ्घ कितने ही अनिच्छित परिस्थितियों उत्पन्न हो गयी हैं। श्री अभयदेवसूरि जी महाराज के काल में यदि उनके समान विवेकी और समर्थ विद्वान के प्रति ईर्ष्या करने वाले लोग हो सकते थे, तो इस काल में सूत्रानुसारी उपदेशकों और गुरुपुत्रों के प्रति कोई ईर्ष्या करे तो क्या नयी बात है?

[illegible]

घरणेन्द्र ने आचार्यश्री से कहा—“इस सम्बन्ध में आप को खेद करने की आवश्यकता नहीं है। आप दीनता का भाव छोड़ दें। और, जिसे मैं बनाऊँ उस जिन-बिम्ब का उद्धार करे। इससे आप का ममस्त रोग नष्ट हो जायेगा और आपकी हाथी घामन की बड़ी प्रभावना होगी।” इतना कहने के बाद घरणेन्द्र ने सेडी-नदी के तट पर स्थित, स्थंभनपुर-नामक ग्राम में एक वृक्ष के अन्दर श्रीकान्ता नगरी के धनेश-श्रावक द्वारा स्थापित स्यम्भन-पार्श्वनाथ भगवान् के प्रतिमा की सूचना श्रीअभयदेवसूरीश्वर जी महाराज को दी।

घरणेन्द्र की सूचना का यह प्रसङ्ग, आचार्य श्री अभयदेवसूरी जी महाराज ने चतुर्विध श्रीसङ्घ को सूचित कर दिया। जिन बिम्ब का उद्धार करने के लिए जब आचार्यश्री चलने को हुए तो श्रीगुरु भी उनके साथ चलने को तैयार हो गया। श्रीसङ्घ में ९०० तो गादियाँ थीं। इससे आप कल्पना कर सकते हैं कि, गुरु भी गिनने आरम्भ थे और हितनी विपुल सामग्री थी।

श्रीमेडी-नदी के तट पर आकर श्रीसङ्घ ने पड़ाव डाल दिया। गुरु कुछ ग्राह्य करने के लिए आचार्यश्री ग्वालों से बात करने लगे। बाबा-गुरु के दौरान आचार्यश्री को यह पता चला कि, ग्राम के ग्राम में मरीचक-नामक एक पटेल रहता है। उसी दिन कुछ बातें सामने आईं। वह ग्राम जब अमुक स्थान पर अपनी सेवा का उत्कृष्ट स्थान में रूपांतरित होता है। जब ग्राम पटेल के घर आकर जाता है और पटेल घर दूतने का प्रयत्न करता है, तो वह ग्राम में रहने के लिए उद्योग करने को आरम्भ होता है।

मङ्गलाचरण के लिए जिन-स्तुति क्यों ?

इस पञ्चमाङ्ग श्री भगवतीजी-सूत्र के अर्थ का जानामृतपान आत्मा की स्वाभाविक अर्थात् अजरामर अवस्था प्राप्त करने वाला है। मुक्तिगामी आत्माएं ही इसका श्रवण भावपूर्वक कर सकती हैं। सूत्र के सुधापान से पूर्व सूत्र के सुधापान की योग्यता प्राप्त करने की दृष्टि से, तथा हम निर्विघ्न-रूप में सुधापान कर सकें, इस दृष्टि से, हमें श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति-रूप सुधा का पान करना आवश्यक है। भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति-रूप सुधा का पान, वक्ता तथा श्रोता दोनों की शक्ति की—सामोपगम की—अभिवृद्धि करने वाला है। श्री जिनस्तुति-रूप सुधा-पान करने के समय हम मृग में मूषामृग छूट भी सकते हैं और उसी द्वारा हम जिनों को नष्ट कर सकते हैं। इसी दृष्टि से टीकाकार शार्ङ्ग मर्मत्रयम जिनेश्वरदेव की स्तुति-रूपी अमृत का पान करते हैं। श्री जिनेश्वरदेव के गुण-वर्णन स्वयन-रूपी मृषा में लिखा हुआ पानि बना हो और जिनसे आत्मा में कभी भी भय नहीं रहता, वे जानाएँ इस सूत्र को समझने के लिए योग्य पितृ जानें। आनु-व-वर्ग के अनिष्टक यः

प्रवेश की बात कहने वाले व्यक्ति को शुद्धि का ज्ञान नहीं है। उन्हें आर्यत्व का विचार नहीं है। इनको मन्दिर-प्रवेश की विधि-विविधि का ध्यान नहीं है। प्रजा की आवाज सुननी नहीं है। जनता के एक भाग को प्रसन्न करने के लिए, प्रजा के अन्य भाग की ओर दुर्लक्ष्य करना और धार्मिक मान्यता को तज देने को कहना अन्याय है। आत्मिक शुद्धि की साधना के लिए बाह्य शुद्धि आवश्यक है। बाह्य शुद्धि के साथ ही बुद्धि की शुद्धि भी आवश्यक है। टीकाकार महर्षि श्री अभयदेव सूरिस्वर जी महाराजने देवाधिदेव श्रीजिनेश्वर भगवन्तों की स्तुति द्वारा अपने में योग्यता का स्थापन किया है—अपनी बुद्धि की शुद्धि की है। यह स्तुति ऐसी है कि, जिन आत्माओं को यह स्तुति पूर्णतः रच जाती है, वे सभी भव्य हैं। और, भव्य होने के साथ ही उत्पन्नगारी हैं, यह बात निश्चिन हो जाती है। जिस मह स्तुति रचिताय हो, वे आत्माएं निश्चय ही न तो अभज्य हैं और न दुर्भज्य हैं।

३ - तिम दण्णे अणुरत्ता, तिण्णरत्ता जे करेति भावेण ।

अणु ३ अणु रत्ता, जे तुति पठित समाप्त ॥

-- एता एता एता, आत्मान २१, २२, २३

३ - तिम दण्णे अणुरत्ता, तिण्णरत्ता जे करेति भावेण ।
अणु ३ अणु रत्ता, जे तुति पठित समाप्त ॥
३ - तिम दण्णे अणुरत्ता, तिण्णरत्ता जे करेति भावेण ।

मङ्गल बुद्धि से मङ्गलस्वरूप साधु को जो ग्रहण करें,
तभी वह मङ्गलकारी होते हैं :

शास्त्रकार महात्माओं ने ऐसा कहा है कि, 'मङ्गलस्वरूप वस्तु को जब मङ्गल बुद्धि से ग्रहण करें, तभी वह मङ्गलकारी सिद्ध होगी।' इस बात पर तर्क करने वाले कहते हैं कि, 'यदि मङ्गलस्वरूप साधु आदि को मङ्गल-बुद्धि से ग्रहण करने पर ही वे मङ्गलकारी होते हैं, तो मङ्गलस्वरूप वस्तु का महत्व ही समाप्त हो जाता है। और, महत्व मङ्गल-बुद्धि का हो जाता है। और, फिर असाधु आदि जो अमङ्गलस्वरूप हैं, उन्हें यदि मङ्गल-बुद्धि से ग्रहण करें तो फिर उन्हें मङ्गलकारी सिद्ध होना चाहिए।' शास्त्रकार महापुरुषों के कथन के सम्मुख, यह तर्क ठीक नहीं लगता। आप एक दृष्टान्त पर विचार करें—जिम्हीं म्यान पर यदि हीरा या कोई अन्य मणि पड़ी है। निश्चय ही वह मणि महामूल्यवान् होगी। यदि वह किसी को मिल जाये तो उसका इस जन्म का दखिद दूर हो जाये। उसका दाया मूल्य निरस्त हो जाता है कि, जीवन भर व्यक्ति जितना चाहे उतना खर्च करे और फिर भी विरागता में मोड़ी रहस्य होकर रहे। दाया बहुमूल्य हीरा अथवा मणि खाने से क्या हो। चाहे वह खट मिट जाये, इसमें किन्हीं माय बाधा नहीं, फिर भी यदि आप उसका मूल्य न जानते हों, तो फिर क्या होगा। यदि आप जब हीरा अथवा मणि को हाथ में ले लें, तो आप उस पर और और भी जिम्हीं बर्तन को मोड़ने को

श्री जिनेन्द्र की भाव-पूजा का एक प्रकार है'। श्री जिनेन्द्र भवान् के प्रति सच्चा भक्ति-भाव प्रकट करें, तभी तारक-भगवान् की सच्ची भावमयी स्तुति सम्भव है। श्री जिनेन्द्र के प्रति भक्ति-भाव प्रकट करने का अर्थ यह है कि, व्यक्ति को श्री जिनेन्द्र की सेवा में पूर्णतः अपने को समर्पित कर देने की इच्छा हो। आप जो द्रव्य-पूजा करते हैं; वह इसका प्रतीक है। द्रव्य वाले को द्रव्य और भाव दोनों से पूजा करनी चाहिए। द्रव्य वाले का द्रव्य-पूजा न करना दोष-रूप है। व्यक्ति जिन-भक्त कहलाये, और उसके पास द्रव्य हो, तो फिर वह द्रव्य-पूजा क्यों न करे? हर श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार, उत्तम द्रव्यों में बट्ट प्रकारी-पूजा रोज करनी चाहिए। ऋद्धि वाले को अपनी ऋद्धि के अनुसार और गरीब को अपनी शक्ति के अनुसार सामग्री में निर्यप्रति श्री जिनेश्वरदेव की पूजा करनी चाहिए। श्री जिनेश्वरदेव के प्रति सच्चा भक्ति-भाव प्राप्त करना चाहिए। शक्ति के अनुसार उत्तमोत्तम द्रव्य से ही श्री जिनेश्वरदेव की पूजा करनी चाहिए। गृहस्थों के लिए द्रव्य-पूजा भार-पूजा भी नैयारी है। भाव-पूजा के योग में ही

१-—इमा उ भवन्त्या, सा उ निश्चिदभोजिण भवे।

भद्रं सर्वं विनामुद मुन, माह्व्या देवचंदण्य ॥

—विष्णु भाष्य १११। नैपादन के योग्य उचित प्रदोष

* परमात्मनो विना मुनि स्वयं तद्विना देवचंदण्यम्—

—“... तद्विना” (मुनयो भवन्त्यस्मादिति) भाष्य १११

भाव-पूजा है। द्रव्य-पूजा करने वाला, यदि भाव-पूजा प्राप्त जाये तो उसकी द्रव्य-पूजा वास्तविक कोटि की न होगी। द्रव्य-पूजा की सच्ची सफलता तो भाव-पूजा पर आधारित है।

श्री नागकेतु को द्रव्य-पूजा से नहीं, भाव-पूजा से केवल ज्ञान मिला :

प्रश्न: नागकेतु को पुष्प-पूजा से केवल मिला। और, पुष्प-पूजा तो द्रव्य-पूजा है ?

उत्तर: पुष्प-पूजा द्रव्य-पूजा है। इससे इनकार नहीं है। पर बात ऐसी नहीं है कि, श्री नागकेतु को कोरी पुष्प-पूजा से केवल-ज्ञान प्राप्त हो गया।

एक बार श्री नागकेतु श्री जिनेन्द्र भगवान् को पुष्प-पूजा कर रहे थे। पूजा के लिए संचित पुष्पों में एक पुष्प में एक पत्त सा गाँव था। श्री नागकेतु को इसकी खबर नहीं थी। मनुष्य जिनेन्द्र भगवान् को पुष्प चढ़ाने जा रहे थे कि, साँपने काट लिया। श्री नागकेतु समझ गये कि, साँप ने काट दिया। पर तुम्हारा मुग्ध मन हो गये। साँप के काटने पर भी तुम्हारे मन में कुछ भी नहीं हुआ। वह अपने मन में अनिष्टादि भावों से भरा हुआ था। वह भगवान् श्री जिनेन्द्र द्वारा बनाये गये भक्तों की भाँति नहीं, पुष्पों के स्वरूप को और आत्मा के साथ पुष्पों

श्री नागकेतु को नागकेतु के रूप में ज्ञान मिला — १ पुष्प के रूप में।
श्री नागकेतु को नागकेतु के रूप में ज्ञान मिला — १ पुष्प के रूप में।

मे समझने वाले और आत्मा के मूल स्वरूप को प्रकट करने की तीव्र भावना वाले जीव आपत्ति में भी सम्पत्ति पैदा करने वाले होते हैं।

श्री नागकेतु की आत्मा पूर्वभव में अट्टम-तपके ध्यान में देह को तज कर नागकेतु के रूप में अवतरित हुई थी। और, नागकेतु के भव में दूध-पीते वालक ने भी अट्टम तप किया था। वान ऐसी हुई कि, श्री पर्यूपणा-पर्व निकट होने के कारण वान में अट्टम-तप की बात चल रही थी। उसकी चर्चा कान में पड़ने से श्री नागकेतु को अति वाल्यावस्था में ही जातिस्मरण जागृत हो गया—यह भाव-मंगल का प्रभाव था। अट्टम-तप के निम्नत्व में पूर्व भव में मृत्यु हुई थी, इसलिए मृत्यु के समय भाव-मंगल जागृत था। उसके फलस्वरूप उन्हें उत्तम कुल मिला—ऐसा कुल जहाँ धर्म की बात चलती है। कुटुम्ब में चलती बातों के प्रभाव में पूर्वभव का भाव-मंगल काम आ गया। अट्टम-तप की बात चल रही थी, उसे सुनकर उस पर विचार करते-करते जागृत

नाग दंशणं क्षेम, चरितं च ततो तदा ।

वीरिणोऽपभोगोप, एयं जीवस्म लक्षणम् ॥

— श्री ३.५.५ (अ० २८ भा० १२) में पुनः के निमित्त
—

अपभोगोऽपभोगो, यथा ह्याया तयो दया ।

अपभोगोऽपभोगो, यथा ह्याया तयो दया ॥

— श्री ३.५.५ (अ० २८ भा० १२) में पुनः के निमित्त

है ? सम्यक् ज्ञान अर्थात् सत्-असत् का विवेक, ज्ञेय-हेय-उपादेय का विवेक, (ज्ञेयको जानने, हेय को त्यागने और उपादेय को व्यवहार में लाने की बुद्धि) सम्यक्-दर्शन है । इसे इस प्रकार समझिये कि, ज्ञान विवेक युक्त हो, विवेक-प्राप्ति के लिए हो, तभी वह लाभदायक होता है । विवेक के अभाव में जितना ज्ञान जितनी बुद्धि और जितनी चतुराई बढ़ती है, उतनी ही निज की और जगत की हानि होती है । ज्ञान के प्रचार की, ज्ञान के दान की बात कोई आपसे करे, और इस सम्बन्ध में कोई आप से सहायता माँगने आये, तो आपको उस पर वैसा ही विचार करना चाहिए जैसे कि, आप अपनी सन्तान और आश्रितों के ज्ञान-लाभ के लिए विचार करते हैं । ज्ञान जो विवेकपूर्ण हो और विवेक देने वाला हो, केवल वही ज्ञान 'स्व' और 'पर' के लिए लाभदायी होता है ।

आप व्यन्तर की बात स्मरण करें । यदि उस व्यन्तर को अपने पूर्व भव का ज्ञान न हुआ होता, तो उस व्यन्तर को गुप्ता न जाना होता । और, राजा-सहित पूरी चन्द्रकान्ता-नगरी नष्ट करने का विचार उसे न आता । अब आप इस बात पर इस क्षण में विचार करें कि, यदि कहीं उस व्यन्तर को पूर्व-जन्म का ज्ञान होता और विवेकयुक्त होता तो ? उस व्यन्तर का ज्ञान विवेकपूर्ण होता तो अपने भव-क्षर विनाश की उसने योजना न बनाती । यदि उसे विवेक होता, तो वह मोक्ष पाता, 'पूर्व-जन्म' वाले जन्म में जन्म नहीं दशा में अपने को नहीं पाता । यदि उसे विवेक होता, तो वह मोक्ष पाता, पर मुझे योगी का

पूर्व ही वह मृत्यु से टकर लेने को तैयार थे। इसीलिए, श्री नागकेतु जिन-प्रसाद के शिखर पर चढ़ कर हाथ ऊंचा उठा कर इस रूप में जैसे कि उस महाशिला को टेक लगा कर रोक रखना चाहते हो खड़े हो गये।

श्री नागकेतु की मृत्यु नहीं होनी थी, जिनप्रासाद का निर्वन्धन नहीं होना था, नगरी का रक्षण होना था और राजा का उपसर्ग समाप्त होना था इस कारण हुआ यह कि, उक्त व्यन्तर देव श्री नागकेतु की तपः-शक्ति को और श्री नागकेतु के भावमङ्गल के प्रभावको, सहन न कर सका। श्री नागकेतु के इस प्रभाव के आने उस व्यन्तर देव की शक्ति फीकी पड़ गयी और उस देव ने स्तब्ध-कुचित महाशिला को समाप्त कर दिया। उसके बाद वह व्यन्तर नागकेतु के पास आया और उसने श्री नागकेतु को नमस्कार किया। राजा विजयसेन रक्त का वमन कर रहे थे, उसे भी श्री नागकेतु के कहने से उमने दूर कर दिया।

कई बार ऐसा भी होता है कि, उग्र पुण्य के स्वामी एक व्यक्ति द्वारा सम्पूर्ण नगर को रक्षा हो जाती है, और कई बार होता है कि, किसी एक के उग्र पाप के कारण सम्पूर्ण नगर विनाश हो जाता है। श्री जिन-स्तुति पाप से बचाने वाली है। तथा पुण्यजन जीवन ही और व्यक्ति को अग्रसर कराने वाली है। १० नाग-मङ्गल है। भाव-मङ्गल निर्जरा के लिए जहाँ अग्रसर होता है, वहीं उग्र पुण्य के बन्ध के लिए भी अनुपम कारण है।

के बच्चे की नजरों में कोई भी वस्तु यथातथ्य-रूप में नजर ही नहीं आती। पिता ने दूसरा विवाह कर लिया, इससे श्री नागकेतु के जीव को माता तो मिली; पर अपरमाता मिली। माता मिलने से बच्चे को सुख होता है, शान्ति होती है, पर वणिक्-पुत्र श्री नागकेतु के जीव को माता के अभाव का दुःख तो था ही; पर जो भी सुख शान्ति थी, वह भी अपरमाता के आने से जाती रही। विमाता नागकेतु को बहुत पीड़ा पहुँचाने लगी—बच्चा उसका नहीं था; पर अपने पिता का तो था न। विमाता को भी बच्चा 'माता' कहकर बुलाता तो था? पर, विवेकहीन होने के कारण और मन में ममत्व का परश पड़ा रहने के कारण, उसे बच्चे पर प्रेम होने के बजाय ईर्ष्या होने लगी।

यदि ज्ञान विवेकमूढ़ हो, यदि वह विवेक प्राप्त करने में विग्रह असमर्थ हो, तो उस ज्ञान को जैन-शासन में अज्ञान अमा मिथ्याज्ञान कहते हैं। वणिक्-पुत्र की माता को जो यह ज्ञान था कि, 'मह बच्चा मेरा नहीं, मेरी सौत का है', वह ज्ञान विवेकहीन अज्ञान था, कारण कि, उस ज्ञान ने ही उगरी वैदित्त बना रखा था। यदि वह पुत्र उनका स्वर्ण का होता,

सम्बन्धों का पूर्णतः निषेध हो जाता है। इसीलिए, वह ज्ञान अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यदि विवेक हो, तो राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होगा, ऐसी बात तो नहीं कही जा सकती; पर यदि विवेक होने पर राग-द्वेष हुए भी तो वे व्यक्ति को अन्धा नहीं बना सकते। 'यह मेरा पुत्र है', 'यह पराये का पुत्र है', आदि विचार तो आते हैं, पर उसके साथ यह भाव भी उत्तमें आता है कि, 'मेरी आत्मा अकेली है' 'मैं किसी का भी नहीं हूँ और कोई मेरा नहीं है', 'जीवन-मृत्यु है और ये सम्बन्ध तो कर्मजन्य हैं', 'अच्छे-बुरे कर्म से अच्छे-बुरे सम्बन्ध होते हैं', 'यदि कर्म का फल न हो तो सम्बन्ध का भी फल न हो।'।

विवेक होने पर ये रायाल बाये बिना नहीं रहते। 'यह मेरा पुत्र और यह पराये का पुत्र' यह विचार यद्यपि सर्वथा मिथ्या नहीं है, तथापि सर्वथा सत्य भी नहीं है। अपेक्षा में यह ज्ञान सम्पूर्ण भी है और अपेक्षा से ही यह मिथ्या भी है। विवेक मूलक यह विचार सम्पूर्ण है; पर विवेक के अभाव में यदि जन्म-मरणों का निषेध होता हो, तो मिथ्या है। जन्म, आप मरण होने से ही, विवेक प्रदान करने में असमर्थ ज्ञान को ज्ञान प्राप्त में नहीं अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान का हर प्रकार का ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान के रूप में कहा जाता है।

यह ज्ञान-विज्ञान और ही अज्ञान-विज्ञान के रूप में अज्ञान-विज्ञान के रूप में ही है, ज्ञान-विज्ञान के रूप में ही है।

for a more detailed view of the
- - - - -

सौतेली माता तुम्हें पीड़ा पहुँचा सकने में सर्वथा असमर्थ
 तुम्हें पीड़ा पहुँचाने में तुम्हारी माता का सामर्थ्य मुख्य
 तो तुम्हारे स्वयं के दोषों पर आधृत है। अपने पूर्व
 तुमने पुण्याचरण न करके पापाचरण किया है। इसीलि
 अपनी सौतेली माता के हाथों कष्ट भोगने के भागी बने।'
 आप समझ ले कि, विवेकपूर्ण व्यक्ति कैसी सलाह दे
 विवेकपूर्ण ज्ञानी ऐसी सलाह देता है कि, जिससे किसी को
 न हो, और जहाँ तक बन सके सभी का लाभ हो। वणि
 के मित्रों ने उसे ऐसी सलाह दी कि, जिससे वह अपने
 अथवा माता के प्रति रोष न प्रकट कर पाये। और, पहले
 प्रति उसके मन में यदि कोई रोषपूर्ण भावना
 तो वह नष्ट हो जाये। तथा वह पाप-चिन्तन से विमुक्त हो
 पुण्य-कार्यों में लग जाये। ऐसी परिस्थिति में दोनों पक्षों
 मिले थे। वणिक्-पुत्र के मित्रों ने उससे कहा :

न्यया पूर्वजन्मनि तपः न कृतं,

तेनैव पराभवं लभसे'

—तुमने पूर्व जन्म में तप नहीं किया, इसीसे इन भा
 गवान् (अन्य ओर में बति पीड़ा) भोग रहे हो।

1. श्री भगवतीजी सूत्र भाष्य २, उद्दिष्टा ५, ३ भाष्यकार ने कहा कि तप
 २. भगवतीजी सूत्र भाष्य ३, उद्दिष्टा ५, ३ भाष्यकार ने कहा कि तप
 ३. भगवतीजी सूत्र भाष्य ३, उद्दिष्टा ५, ३ भाष्यकार ने कहा कि तप
 ४. भगवतीजी सूत्र भाष्य ३, उद्दिष्टा ५, ३ भाष्यकार ने कहा कि तप

पुष्ट हो रहा है—भावमङ्गल का ! भावमङ्गल के प्रभाव को समझने के लिए यह एक अति सुन्दर उदाहरण है, इससे स्मृति ताजी हो गयी । ऐसा ज्ञान जिसका उपयोग न हो, मेरे पास नहीं है । श्री नागकेतु के जीवन का ज्ञान है, पर यहाँ प्रश्नों के निमित्त से उस ज्ञान का उपयोग हुआ । इस कथा के प्रसङ्ग से उसके वर्णन के विस्तार में जाने से पीठिका छड़ और सुन्दर बनती जा रही है । श्री भगवतीजी-सूत्र सुनने की योग्यता आप में न हो तो हो जाये और यदि हो तो वह और निर्मल हो जाये; इसके लिए यह वर्णन उपयोगी है । प्रसङ्ग वश इस कथा में जो बातें पहले नहीं जा चुकी हैं, उनको यदि आप ठीक-ठीक स्मरण रखेंगे, तो आप टीकाकार महर्षि द्वारा मङ्गलाचरण करती हुई जिन-स्तुति और और उनके पश्चात् आये अधिकारों का सार भली प्रकार ग्रहण कर सकेंगे ।

अन्धे मित्र की सच्ची सलाह से वणिक्-पुत्र यथाशक्ति तपश्चरण में लगने में अनुक्त हो गया । इतने में पर्यूपण-पर्व निवृत्त आ पहुँचा । तब एक बार रात में सोते समय उस वणिक्-पुत्र ने मन में विचार किया कि 'आगामी पर्यूपण में मैं अवश्य जड़मत्त बन्नेवा ।' ऐसा विचार करके वह सो गया । ऐसे ही उस वणिक्-पुत्र के सोते ही जगह भिन्न थी, पर भविष्यता के दृष्ट में वह वणिक्-पुत्र उस रात में घाम की एक झोपड़ी में सो गया ।

उस रात ही श्री माता के दृष्ट में तो उनके प्रति अपना देव

उसके बाद तुरंत ही श्री नागकेतु के पिता की मृत्यु हो गयी। वर्षों को मानताओ के बाद तो एक पुत्र का जन्म हुआ और वह भी जिया नहीं मर गया। इस आघात से श्री नागकेतु के पिता की भी मृत्यु हो गयी।

उस समय उस राज्य में नियम था कि, यदि कोई व्यक्ति निष्पुत्र मर जाये, तो उसका धन राजा ले लेते थे। अतः श्री नागकेतु के पिता की मृत्यु के बाद उसका धन लेने के लिए राजा के सुभट वहाँ आ पहुँचे।

दूसरी ओर श्री नागकेतु के अट्टम-तप के प्रभाव से धरणेन्द्र का आत्मन प्रकम्पित हुआ और अवधिज्ञान के द्वारा उन्हें ज्ञात हो गया कि, श्री नागकेतु जीवित अवस्था में ही भूमि में गाड़ दिये गये हैं। धरणेन्द्र अविलम्ब वहाँ आये और अमृत का छोटा दोर उगने उन्हें गलेन किया और आधासन दिया। और, श्री नागकेतु के घर आकर राजा के सुभटों को धन लेने से रोका।

राजा को इसकी सूचना मिली तो राजा भी अविलम्ब वहाँ आया। और, ब्राह्मण-गणधारी धरणेन्द्र से धन लेने में रोने लगा कारण पूछा।

धरणेन्द्र ने कहा—“उम मेठ का पुत्र मरा नहीं है, जीवित है। राजा के अद्विष्ट पुत्रानन्द पर, धरणेन्द्र बच्चे को जीवित मानवा में मूर्ति से निर्मात गया।

अतः धरणेन्द्र ने राजा से ब्राह्मण में पुत्र—
३- ३३३ १/१२

अमित हो जाये। व्यग्रता के समय तो कितनी ही बातें भूल जाती हैं। श्री नागकेतु को अपने मोक्ष पर पूर्ण विश्वास था, इस कारण वह जिन-प्रासाद के शिखर पर नहीं चढ़ गये। उनका विचार यह था कि, यदि जिन-प्रासाद का विध्वंस हो तो उसमें पूर्व उनका अथवा उनकी देह का विध्वंस हो जाये। इस विचार को लेकर वह शिखर पर चढ़ गये थे। और, कुछ विचार करने को वह नहीं रुके। प्रश्नकार कहते हैं कि, उन्हें डर नहीं था।' यह बात सच है; पर, प्रश्नकर्ता उनके डर न होने के कारण की जो बात सोचते हैं, वह गलत है। उन्हें इस बात की सूचना थी कि, उसी भव में उन्हें मुक्ति मिलने वाली है; पर यह भान नहीं कि, उन्हें डर नहीं था। श्री जिनेन्द्र के प्रति अपूर्व भक्ति जो उनके हृदय में थी, उसके कारण उनको डर नहीं लगा। अपने कल्याण के लिए इस महापुरुष के आदर्श पर चलना ही श्रेयस्कार है।

मणिमय भवन में मन में भगवान् ही थे :

जानो मूल बात तो यह थी कि, भावसङ्गल के बिना किसी भी निद्रि नहीं है। जिने भी निद्रि मिली है, क्षेत्रान्तर में निद्रि प्राप्त करनी है। अथवा जो उसे प्राप्त करेगे, उनको भावसङ्गल के बाधों से ही निद्रि मिली है। श्री जिनेन्द्र की स्तुति तथा स्मृति के लिये हमारा उद्देश्य कोई भावसङ्गल नहीं है।

यद्यपि यह बात सच है कि, यदि हम भावसङ्गल के बाधों से निद्रि प्राप्त कर लेंगे, तो हमारे मन में भी निद्रि मिलेगी।

चक्र अपना है; पर केवल-ज्ञान पिताश्री को हुआ है। चक्र से तो ६ खण्ड जीतना है, जगत भर में विजय का डंका बजवाना है—भोग-सृष्टि का विस्तार करना है। पर, हृदय का स्नान किवर था ? क्षण भर के लिए भरतचक्री को विनार आया कि, 'पहले क्या करना चाहिए ? पिताश्री के केवल-ज्ञान का उत्सव अथवा चक्र-रत्न की पूजा ?' अविलम्ब उनके हृदय में विचार उठा—'अरे, यह कैसा विचार ! कहां विश्व के प्राणिमा को अभयदाता पिताश्री और कहां प्राणियों का घातक चक्र-रत्न ! दोनों में पहले किसकी पूजा करे, इसमें विचार ही क्या करना है ? चक्र तो उत्पात करने वाला है, उससे मुझे जो लाभ होने वाला है, वह तो इस भव मात्र के लिए है, पर परम तारक पिताश्री की पूजा तो भवोभव सुखदावृत्त है।

चक्र-रत्न में फँस जाने वाले को और उसके भोग में मग्न रहने वाले को यह चक्र और उससे प्राप्त सामग्री नरक का दुःख भेंट करने वाला है। जिसके हृदय में भगवान् न हों, उनके मस्तिष्क को तो यह चक्र चकरा ही देने वाला है। भौतिक मुक्त को और जगत में विजय की डंका बजाने की कामना वाला व्यक्ति तो पहले चक्र की ही पूजा करने वाला है। पर, यह तो नरक यक्षानी महाराज ही थे कि, चक्र-पूजा स्वयं करने वाले पिताश्री की पूजा के लिए दौड़ पड़े। पिता के पास जाने के लिए माता के पास गये और माता की सेवा में श्रम करने के लिए माता के पास जाने को मिले।

प्रश्न : जो सम्यक्-दृष्टि होता है, वह क्या सच द्रव्यों के सच परतों को जानता है ?

वह स्वतन्त्र रूप में न जानता हो तो भी वह उसे ही ईश्वर के रूप में मानता है, जो वीतराग और सर्वज्ञ हो—अन्य समस्त निश्वाजो को त्याग कर वह एक मात्र सर्वज्ञ भगवान् श्री निष्ठा स्वीकार करता है। इस प्रकार सर्व द्रव्यों के सर्व पर्यायों से वनभिन्न होने पर भी वह सर्व द्रव्यों के सर्व पर्यायों के प्रति श्रद्धालु होता है। और, उसकी मान्यता इस बात पर दृढ़ होती है कि, 'सर्वज्ञ भगवान् जो कुछ कहते हैं, वही सच है और उसके विपरीत जो भी है वह मिथ्या है।'

इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि, वह सर्वज्ञ जानने वाला है। यह बात ठीक वैसी है जैसे कि, कहें, 'विजयी राजा की सेना विजयी है।' 'एक मात्र श्री जितेन्द्र-भगवान् ही ऐसे हैं, जिनके शरण में जाना योग्य है; अन्य किसी की शरण में जाना योग्य नहीं है, ऐसी जिसकी श्रद्धा नहीं है, उसके प्रति सम्मर्-न्दान सम्भव नहीं है। और, जहाँ ऐसी श्रद्धा हो, वहाँ सम्मर्-न्दान सम्भव नहीं है। और, जहाँ ऐसी श्रद्धा हो, वहाँ सम्मर्-न्दान सम्भव नहीं है।

प्रश्न : सम्यक्-दृष्टि का एक मात्र श्री जितेन्द्र की निष्ठा ही है ?
 क्या मातु से निष्ठा नहीं होती ?

श्री जितेन्द्र-भगवान् की निष्ठा में, श्री तारक भगवान् की निष्ठा भी शामिल है। तारक भगवान् के कथित मार्ग पर चलने वाले तत्त्व-आचार्योक्त मातुओं की भी निष्ठा सम्भव है। अतः तारक भगवान् की भी श्री जितेन्द्र-भगवान् की

हो; पर आत्मा सभी कर्मों से मुक्त हो कैसे ? फिर, यह विचार उठता है कि, जो सर्वज्ञ हो वही मोक्ष का मार्ग बता सकता है। मोक्ष का मार्ग केवल सर्वज्ञ ही बता सकते हैं, इसका कारण यह है कि, समस्त संसार से छूट जाना मोक्ष है और इस सारे संसार का ज्ञान तथा उससे छूट सकने का ज्ञान केवल सर्वज्ञ को ही हो सकना सम्भव है। फिर, उसके मन में प्रश्न उठेगा कि, सर्वज्ञ कौन हो सकता है ? रागी तथा द्वेषी सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि यह तो अज्ञान है। सम्पूर्ण ज्ञानी तो न रागी होगा और द्वेषी। इसलिए, सर्वज्ञ तो वही बन सकता है, जो वीतरागता प्राप्त कर ले। फिर, आगे यह निर्णय करेगा कि, जो वीतराग अवस्था सर्वज्ञ न हो, वह मोक्ष-मार्ग नहीं बना सकता ! वह तारको द्वारा कथित मोक्ष-मार्ग को भले ही बाण पर स्वतन्त्र रूप में तो मोक्ष-मार्ग वही बता साता है, जो वीतराग और सर्वज्ञ हो। इन समस्त विचारों के पश्चात् वह निर्णय करता है कि, 'निश्चय ही देव तो वही कहा जाता है जिसमें वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त करके स्वतन्त्र रूप से मोक्ष-मार्ग को प्रकाशित किया हो। जो वीतराग तथा सर्वज्ञ नहीं है, वह देव नहीं है।' जो यह विचार करके श्री जितेन्द्र-देव की स्तुति करता है कि, 'वीतराग और सर्वज्ञ बन कर ये श्री गायत्री सत्य जगत् में रचित हो गये हैं, वह श्री जितेन्द्र-भगवान् की आज्ञा पर ही हमने के लिए तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करने के लिए भगवत् विद्या प्राप्त की है। प्रत्यक्ष ही होगा ? ऐसा क्या है कि विद्या संसार का श्री जितेन्द्र-भगवान् द्वारा प्रकटित मार्ग

बापने तो श्री जिन-स्तवन-नाभक क्रिया का निषेध करके पूर्वकथित आध्यात्मवादी-सरोखी बात की। इन कोरे आध्यात्मवादियों को यदि कोई ज्ञान-गङ्गा में स्नान करने वाले बाबाजी के भक्त-सरोखा अनुभव कराये, तो वह झट समझ जा सकते हैं।

ज्ञान-गङ्गा में स्नान करने वाले बाबाजी का उदाहरण :

एक बाबा जी को उनके यजमान ने बड़ी भक्ति से एक दिन भोजन के लिए आमन्त्रित किया। पर, बाद में तो उस यजमान को ही बाबा जी को धर्म समझाने की आवश्यकता पड़ गयी।

बाबा जी को भोजन के लिए आमन्त्रित करके, यह यजमान बाबा जी को अपने साथ ले आया। जब भोजन का समय हुआ तो यजमान ने बाबा जी से कहा—“स्नान कर लीजिए, भोजन तैयार है !”

जब जिन पडाके ती टंडक पड रही थी। हवा इन्हीं टंडकी थी कि, बिना पानी स्पर्श किये शरीर कांप रहा था। और फिर ठंड पानी में स्नान। इसलिए, बाबा जी ने निश्चय किया कि, बिना स्नान किये ही काम चलाया जाये। अतः उन्होंने यजमान से कहा—“मुझे स्नान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मैं तो ज्ञान-गङ्गा में स्नान करता हूँ।”

यदि यतनापूर्वक करे तभी धर्म है। श्री जिन-पूजा के लिए शरीर-शुद्धि आवश्यक है और स्नान बिना शरीर की शुद्धि नहीं हो सकती, मात्र इसलिए स्नान करने का विधान है। प्रभु-पूजा के अतिरिक्त स्नान करना शरीर-सत्कार है प्रभु-पूजन के निमित्त यतना से रहित ढग से आवश्यक अधिक जल से स्नान करना विधि का उलङ्घन है।

प्रश्न : नगरों में तो गटर हैं। निर्जीव भूमि ही नहीं मिलती

नित्पाय दशा में भी विधि को तो लक्ष्य में रख चाहिए। विधि के पालन करने में अशक्ति के कारण अधिविधि का नेवन करना पड़े तो भी विधि का बहुमान अनस्य होना चाहिए। विधि बहुमान गया नहीं कि, अविबंधन में पड़े नहीं। आदमी को ध्यान में रखना चाहिए ऐसा करने से पाप लगेगा और भगवान् द्वारा कथित। यदि उन प्राणर की जाये तो वह धर्म नहीं गिना जाये नगरों में स्नान की बात तो भिन्न है; पर स्नान में परिजल के उपयोग की बात तो ध्यान में रखी ही जा सकती पर, हममें भी आज सिनकी शिक्षण आ गयी है। फिर तो बड़ी बा-टी भर पानी स्नान के लिए चाहिए और भी पुर नहीं, बल्कि दो बाट्टी। पर, यह बात विचार की जाये कि, शरीर की मेरा में शरीर के मोट में किनी अति शान भी विद्याना होना है, और विधि का सिनना उच्छ

लिए आग्रह करते हुए कहा—“स्नान किये बिना भोजन करना अपना आचार नहीं है; बल्कि अनाचार है। शास्त्र की आज्ञा है, ‘प्रयमं स्नानं आचरेत् ।’

पर, बाबा जी तो निर्णय किये बैठे थे कि, स्नान नहीं हो करना है। अतः बोले—“तुम इन बातों को क्या समझो। मैंने ज्ञान-गङ्गा में स्नान कर लिया है। वही काफी है।”

यजमान को लगा कि, “मैं चाहे जिस रूप में आग्रह करूँ; पर बाबा जी तो मानने वाले नहीं हैं। अतः उसने स्नान की बात छोड़ दी और बाबा जी को भोजन पर बैठा दिया। पर, उसने मन में सोचा—‘कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि, बाबा जी को जल-स्नान की आवश्यकता समझ पड़े और भविष्य में ज्ञान-गङ्गा के नाम पर जल-स्नान करने के धर्मा-धरण का वह त्याग न करे।’ वह यजमान चतुर था। वह समझ गया कि, बाबा जी लंडक के कारण स्नान नहीं कर रहे थे। वह इसे स्पष्ट नहीं कह सक रहे हैं और इसी कारण ज्ञान-गङ्गा का बहाना कर रहे हैं।

यजमान ने तो उन्हें आया था—भक्ति करके के लिए, पर जपदा कर्तव्य समझ कर इस रूप में विचार कर रहा था। यदि द्वार पिछाना का धर्मिक दाना दंड हो तो आपको स्वयं ही मारना चाहिए कि, श्रावस्ती की आचार-विचार में किसी दंड होना चाहिए।

बन्द कर देता है, सूर्योदय के पश्चात् २ घड़ी तक कुछ खाता-

३२ अनन्तकायो की सूची सम्बोध-प्रकरण गुजराती अनुवाद सति, दृष्ट १९९) में इस प्रकार दी है :—

सव्या य कन्दजाई, सूरणकन्दो १ अ घज्जकन्दो य २ । अल्ल हलिह ३ य तहा अल्ल ४ तह अल्लकच्चूरो ५ ॥ सतावरी ६ विरागी ७ कुंमारी ८ तह थोहरी ९ गिलोई १० य । लसुणं ११ बस करील्ला, १२ गज्जरं १३ लुणो १४ अ तह लोदा १५ ॥ गिरिकणि १६ किमलिय ता १७ सरिसुआ १८ थेग १९ अल्लमुथा २० य । तह लण रुफ्त छल्ली २१ सिल्लहदो २२ अमयवल्ली य २३ ॥ मूला २४ तह भूमि रुहा २५ विरुआ २६ तहदंक वथुलो पडमो । २७ मूअरवल्ली २८ अ तहा, पल्लंको २९ कोमलं बिणिआ ३० । आत् ३१ तह पिठात् ३२ हवंति ए ए अणतनामेणं ।

मर्ग जाति के कंद—

१ सूरणकंद, २ वज्रकंद, ३ हलिह, ४ अदरक, ५ कर्पूर, ६ सतावरी, ७ विराजी, ८ कुआर, ९ थूवर, १० गिलोय, ११ लसुण, १२ बसमिल्ला, १३ गाजर, १४ लोण, १५ लोदा, १६ गिरिकणि, १७ किमलिय पत्र, १८ गुस्तानी, १९ मोग, २० अल्लमुथा की छात्र, २१ विरुआ कंद, २२ अमृतवल्ली, २३ मूल, २४ भूमिकण, २५ विरु, २६ दंक, २७ मालु, २८ मूअरवल्ली, २९ पल्लंको, ३० कोमल इमरी, ३१ आत्, ३२ पिठात्

१४ निम्नोक्त गा लटोण भर्मे गज्जह मयी (पा ८०१)
इह प्रत्यक्ष द्रिय है.—

सूरणक १, वज्र २, विरु ३, बाण्ड ४, तंबोच ५, कर्पूर ६, मूअरवल्ली ७ । वादग ८, मगग, ९, किलेवग १०, घंठ ११, पिठात् १२, मूअर १३ मूअर १४

यजमान ने चारपाई के पास रखा जल भरा कमण्डल हटा दिया। बरामदे का दरवाजा बन्द कर दिया और घर में सबको ताकीद कर दिया कि, 'मेरे सिवा और कोई दरवाजा न खोले। बाबा जी आज साधना करने वाले हैं। वे मेरा नाम ले-लेकर आवाज लगायेंगे और दरवाजा खोलने को कहेंगे पर कोई दरवाजा न खोले, क्योंकि दरवाजा खोल देने से उनकी साधना अधूरी रह जायेगी।' कुछ लोग कहेंगे— "उस यजमान ने ऐसा भूठ क्यों कहा?" पर, इस यजमान को बाबा जी की फजीहत करने की किञ्चित् मात्र इत्ना नहीं थी।

उनकी केवल यह इच्छा थी कि, बाबा जी को अपनी भूत समझ में आ जाये और घर्माचरण पालन में तत्पर हो जायें। यजमान की केवल इतनी मात्र इच्छा थी; इसीलिए मोन व्यवस्था करके अपने कार्य में प्रवृत्त हो गया। बाबा जी पूर्ण तरह सो गये। अधिक राने वाले को नींद भी अधिक आती है। मुनि लोग अतृप्ताहारी होते हैं; इसलिए उन्हें नींद भी नहीं आती है।

आहार और निद्रा में गहरा सम्बन्ध है। ऐसे विरतों में जो आहार के बाद निद्रा न लेते हों। भूने पेट नींद न आती और पेट पूरा-पूरा भरा हो तो जागना भी सुगम होता है। श्री जैन-शास्त्र में कहा गया है कि, पेट में दो हूँस भरना चाहिये। जागना पेट थोड़ा खाली रहिये। बा



अथवा कुल ६ विकृतियों का त्याग करते हैं, तो आप रसत्याग तप के आराधक बन सकते हैं। यदि कुल ६ विकृतियों का त्याग सम्भव नहीं है तो एक-दो विकृतियों का; और यदि वह भी सम्भव न हो तो प्रतिदिन एक-दो भिन्न-भिन्न विकृतियों का और यदि वह भी सम्भव न हो तो मात्र कच्ची विकृति का त्याग तो सम्भव है न? खाते-पीते तप-सेवन का यह सुन्दर उपाय है। आपको केवल इस एक बात का निर्णय करना है कि, आप भगवान् द्वारा कथित तप को आचरित करना चाहते हैं। यदि आप उसे आचरित करना चाहें तो उसके लिए सरल से-सरल उपाय इस शासन में उपलब्ध है। उणोदरी तप के लिए तो कहा गया है—आहार लेकर भी आहार में पेट भर देना अर्थात् पेट जब थोड़ा खाली रहे उसी मगम भोजन करना बन्द कर देना। अब आप ही कहिए, इस तप में कठिनार्द्ध-नारीतो क्या चीज है? यदि रसना की लोचुता न हो और तप करने की स्वयं भी इच्छा हो तो आप प्रतिदिन तपन्नी बन सकते हैं! तप की भावना होने पर भी यदि रसना की लोचुता हो तो अवश्य ही कठिन है। माने के लिए भेजना ही नहीं है, यह विचारने वाला यदि खाने बैठ जाये तो रसना पर यन्त्र रसना बड़ा ही कठिन है। बहुतों को उपवास करना पड़ता है और आयुर्विद्वत् कठिन लगता है। क्या यह है कि, आयुर्विद्वत् में रसना तो रहता है; पर रसना मृषा मिश्रित और बिना मगमले के। मिश्रित को प्रथम में मगमले के तप? मिश्रित तो मगम-मगमले वाली चटनी और मगमले के

खा इतना लिया था कि, पेट में पानी के लिए जगह ही नहीं रह गयी थी। इसीलिए, उन्होंने पानी नहीं पी थी और उसके बाद गरम-गरम पकौड़ियाँ उन्होंने खा ली। इससे फिर उन्हें इतनी प्यास लगी कि, पूछना ही क्या ? बाबा जी की जब नींद मुली तो उनका गला एकदम सूख रहा था। प्यास से व्याकुल बाबा जी ने अपना जल भरा कमण्डल, उठाने के लिए खाट के नीचे हाथ डाला। पर, कमण्डल तो वहाँ था ही नहीं ! बाबा जी चढ़ से उठे और इधर-उधर उन्होंने दृष्टि डाली, पर कहीं कमण्डल, नहीं दिया। अतः वह दरवाजा खुलवाने गये। दरवाजा बन्द था। उन्होंने खूब आवाजे लगायी; पर किसी ने जवाब नहीं दिया। प्यास बढ़ती जा रही थी और गला सूखता जा रहा था। चिल्लाने से और भी गला सूख गया। फिर, दरवाजा पीछे रगें तो यजमान ने पूछा—“महाराज ! आप इतने परीशान क्यों हो रहे हैं ?” बाबा जी ने उत्तर दिया—“मेरा कमण्डल, गलत गया ? बड़ी तेज प्यास लगी थी; इतनी आवाजें लगायी और इतना दरवाजा पीटा पर कोई धोलता ही नहीं।” यजमान बोला—“इसमें परीशानी की क्या बात है ? आपके पास कमण्डल नहीं था, तो नहीं था; पर ज्ञान-गंगा तो आपके पास थी न ? फिर ज्ञानामृत पी लिया होता !” बाबा जी बोले—“जाना नहीं ज्ञानामृत में सुखती है ?” यजमान ने उत्तर दिया—“ज्ञान ज्ञान गंगा में सम्पूर्ण शरीर स्नान कर सकता है, स्नान में ज्ञान-गंगा प्यास नहीं बुझा सकती ?” यजमान ने इस पर बाबा जी को तब समझाये। उन्हें अपनी भूल सुनकर दार भ

बोझने में, ऊँघने में, टहलने में कभी पीछे नहीं रहते। इनकी ये क्रियाएँ चलती रहती हैं। योगी को नियन्त्रित करके, पाप से बचाने, पापों का निर्जरा करने वाले और पुण्य कमवाने वाली क्रियाओं का निपेत्र करना और योगी का स्वच्छन्द प्रवर्तन कराना क्या आध्यात्म है? यदि क्रिया की आवश्यकता नहीं है, 'तो फिर क्रिया की आवश्यकता नहीं है!' फिर, बोलने की क्या जरूरत? हमें तो अक्रिया की अवस्था प्राप्त करनी है; पर जीव तो अनन्त काल से क्रियाएँ करता आ रहा है! और, उन क्रियाओं से हमने पाप का उपार्जन किया है। तो, फिर पापों से मुक्त करने वाली क्रियाओं को करने की तो आवश्यकता है न? कहा गया है—“क्रिया से अक्रिया की अवस्था आती है।” क्रिया से अक्रिया की अवस्था प्रकट करनी है, पर उसे पैदा नहीं करना है। अक्रियावस्था आत्मा का स्वभाव है। पर, यह कर्मों में आवरित है। कर्मों के इन आवरणों को भेदने के लिए क्रिया आवश्यक है। निर्बल क्रियाओं द्वारा चला आवरण सब क्रियाओं द्वारा उतरता है। आप पूछेंगे—“क्रिया तो जड़ है”, जड़ क्रियाओं में क्या लाभ? पर, मैं यह पूछता हूँ कि, 'आप बोझ में रहे हैं, आपकी नोचों भी तो जड़ हैं न। जड़ होने पर भी बाणों आत्मा पर प्रभाव डालती हैं या नहीं? भाव पूर्वक की गयी क्रिया से अन्य गिनी जाती है। जरीर जड़ है। पर, उग्रता लाता है। तो जरीर द्वारा की गयी क्रिया भाव वाली बलवान् शक्ति लाता न लाती है। भावमयी क्रिया अनुभूति क्रियाओं को लाती है न लाती है। तात्कालिक क्रियाओं को न मानने वाली

देव के एक वचन के प्रति भी शङ्का नहीं होती। ऐसे लोग भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की द्रव्य तथा भाव से स्तवना करते हैं। द्रव्य से स्तवना करे तो भावपूर्वक करें। और, तारक भगवान् की आज्ञा के पालन के रूप में तारक की भाव-स्तवना अर्थात् भाव-सेवा करें। इस प्रकार भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की स्तवना में तारक भगवान् द्वारा कथित मोक्षमार्ग के सब योगों का समावेश हो जाता है। और, इस दृष्टि से यह भी कह सकते हैं कि, श्री जिनस्तवन में मुक्ति देने का पूर्ण सामर्थ्य है।

‘भगवान् श्री जिनेश्वरदेव के स्तवन की इतनी बड़ी महिमा किस कारण है?’

ऐसा प्रश्न वह व्यक्ति नहीं करता जिसे भगवान् श्री जिनेश्वरदेव का परिचय होता है। भगवान् श्री जिनेश्वर देवता जिसे थोड़ा भी परिचय हो उसे यह भावना होती है कि, ‘इस संसार में स्तवन करने योग्य केवल तारक ही हैं। तारक का अनुसरण करनेवाले भी स्तवन करने के योग्य हैं। ये तारक और इन तारकों का अनुसरण करने वाले के अनिरिक्त कोई भी आत्मा इस संसार में साक्षात् मोक्ष में स्तुति करने योग्य नहीं है।’ जिसे ऐसी समझ हो उसके अन्तर में यह भाव प्रकट होता है कि, ‘भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की शुद्ध तथा भावपूर्ण स्तवना से कोई भी लक्षण अस्पष्ट नहीं है। और, उनके स्तवना से जो आशय हो वह किसी तन्त्र की स्तवना से सम्बन्ध नहीं है।’ प्रिय

प्रयत्नपूर्वक भगवान् की स्तवना

श्री भगवतीजी-सूत्र की टीका-रचना प्रारम्भ करते हुए टीकाकार आचार्य भगवान् श्रीमद्भयदेव सूरेश्वर जी महाराज ने मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोक में भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति की है। उसमें स्तुति में आचार्यश्री ने पहले श्री जिनेश्वरदेव के पन्द्रह विशेषण दिये हैं।

टीकाकार परमपि ने इस स्तुति में भगवान् श्री जिनेश्वर देव का परिचय कराया है; वही उन्होंने यह भी बताया है कि, तारक श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति किस प्रकार करनी चाहिए। इसी दृष्टि में टीकाकार महापुरुष ने केवल 'प्रणौमि' न कहकर 'प्रयतः प्रणौमि' कहा है। एक तो 'नौमि' कहने के बजाय 'प्रणौमि' कहा और दूसरे केवल 'प्रणौमि' न कहकर 'प्रयतः प्रणौमि' कहा। दोगे प्रकार टीकाकार महापुरुष ने स्तवना में प्रार्थना का सूचन किया है और श्रवण करने वाले की प्रकृष्टता भी सूचित की है। इसमें यह बात प्रकट होती है कि, टीकाकार भगवान् ने इस स्तवना को पूरे-पूरे उपयोग-पूर्वक, अथवा अर्थपूर्ण में देख कर रचा करके, इत्यादिपूर्वक किया है। इसमें देवता का नाम नहीं है, वरन् उसमें अर्थपूर्ण

प्रयत्नपूर्वक भगवान् की स्तवना

श्री भगवतीजी-सूत्र की टीका-रचना प्रारम्भ करते हुए टीकाकार आचार्य भगवान् श्रीमद्भयदेव सूरेश्वर जी महाराज ने मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोक में भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति की है। उसमें स्तुति में आचार्यश्री ने पहले श्री जिनेश्वरदेव के पन्द्रह विशेषण दिये हैं।

टीकाकार परमपि ने इस स्तुति में भगवान् श्री जिनेश्वरदेव का परिचय कराया है; वही उन्होंने यह भी बताया है कि, तारक श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति किस प्रकार करनी चाहिए। इसी दृष्टि में टीकाकार महापुरुष ने केवल 'प्रणोमि' न कहकर 'प्रयतः प्रणोमि' कहा है। एक तो 'नांमि' कहने के बजाय 'प्रणोमि' कहा और दूसरे केवल 'प्रणोमि' न कहकर 'प्रयतः प्रणोमि' कहा। इस प्रकार टीकाकार महापुरुष ने स्तवना की प्राप्ति का सूचन किया है और श्रवण करने वाले की प्रवृत्ति भी सूचित की है। इससे यह बात प्रकट होती है कि, टीकाकार भगवान् ने इस स्तवना को पूरे-पूरे उपयोग-पूर्वक, अर्थात् स्तवना में गेय स्थापन करके, उत्थासपूर्वक किया है। इस में केवल श्रुति मात्र मान नहीं है; वरन् उसमें उत्थास

तो यह है कि, भगवान् की स्तुति में ही प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है। आप ही विचार करे कि, आपके मन-वचन-काया इन तीन योगों का आकर्षण किस दिशा में है ? आत्मा की ओर या पुद्गल की ओर ? मन-वचन-काया को पौद्गलिक विषयों में लगाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है या आत्मिक विषयों में लगाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है ? उपदेश के समय के अतिरिक्त अन्य समयों में तो मन पौद्गलिक सुख के विचारों में ही रमा रहता है। ऐसे ही वचन भी निकलते हैं और शरीर भी उसी दिशा में खिंचा रहता है। क्या आप इस बात से इनकार कर सकते हैं ? मन-वचन-काया इसी प्रकार की चीजों में लगे रहते हैं। इस ओर मन-वचन-काया को लगाने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। अतः आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि, पौद्गलिक सुख की साधना में मन-वचन-काया को लगाने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। पौद्गलिक सुख में तो ये तीनों योग स्वयं योजित हैं। इन योगों से हटाकर आभिमुख बनाने के लिए तथा आत्माभिमुख बनाने के बाद आत्माभिमुख बनाने के लिए ही प्रयत्न की आवश्यकता पड़ेगी। हम लोग तो अनन्तानन्त काल से इस संसार में भ्रमण कर रहे हैं, इसका कारण क्या है ? इसका कारण इतना मात्र है

१. हम तीन दर्जों में एक निम्न परिभाषिक दर्जा हैं। उनमें से २८ मार्ग १२ में प्रस्तावित हम प्रहार दिया है—

मन-वचन-काया, प्रमा, छाया, तन्मय इत्यादि।

मन-वचन-काया, प्रमा, छाया, तन्मय इत्यादि ॥

‘जिनमुद्रा’ और श्री जयवीरराय’ बोलते हुए ‘मुक्ताशुक्तिमुद्रा’ आवश्यक है। और, जहाँ ‘नमः’ आदि आये वहाँ दसो नख जोड़ कर मस्तक से कर-स्पर्श करना होता है)। ऐसा करना प्रयत्नपूर्वक प्रभु-स्तवना करना कहा जाता है। और, ऐसी स्तवना से ही स्तवना का वास्तविक फल प्राप्त होता है। उचित रीति से प्रयत्न किये बिना, सही प्रभु-स्तवना हो ही नहीं सकती।

प्रभु-स्तवना का सच्चा प्रयत्न कौन कर सकता है :

अब आप ही विचार करे कि, प्रभु की स्तवना के लिए क्या प्रयत्न कौन कर सकता है? क्या धन का लोभी, इन्द्रिय-सुख की कामना वाला, हाट-हवेलियों को देखते रहने वाला? मृत्यु के बाद क्या गति होगी, इसकी चिन्ता न करने वाला व्यक्ति क्या प्रभु की स्तवना के लिए भली प्रकार प्रयत्नशील बन सकता है? इसका सीधा-साधा उत्तर नकारात्मक है। ऐसा व्यक्ति केवल अपनी भौतिक लाजसाएं पूरी करने के लिए प्रभु की स्तवना में प्रयत्नशील हो सकता है; पर ऐसी स्तवना

१. कर्माणि भद्राणि पुराणि कृणुत जयं पश्चिमम् ॥

पश्चिमं कृणुतः पुनः पुनः होतुं जिणमुद्रा ॥

—पञ्चाशक, ३.११४

२. मुद्राणां मुद्रा मया यदि दोषः सन्निभः दृष्टः ॥

मे पुनः कृणुत देवे मया कर्मणि कृणुतः ॥

—पञ्चाशक, ३.११५

चंचल लक्ष्मी के गुलाम नहीं स्वामी बने और फिर उसके द्वारा अविचल को साधें :

आप तो बहती चीज के पीछे पड़े हैं और जो आपके पास है, उसे उपेक्षित छोड़े हुए हैं । इसलिए, जिस योग-शुद्धि से आपको प्रभु की स्तवना करनी चाहिए, उस योग-शुद्धि से आप प्रभु की स्तवना नहीं कर सकते । आप पूछेंगे कि, बहती हुई वस्तु क्या ? और, पास की चीज क्या ? इसका स्पष्टीकरण भी मेरे इन प्रश्नों से ही हो जायेगा—“शरीर नाशवान् है या आत्मा नाशवान् है ? लक्ष्मी आदि नाशवान् है या आत्मा का स्वभाव नाशवान् है ? शरीर तथा लक्ष्मी आदि के नाशवान् होने पर भी आप इसी ओर प्रयत्नशील हैं । आत्मा शाश्वत है, उसके धर्म के स्वभाव को प्रकट करने की आवश्यकता न होने पर भी ऊपर आपका उपेक्षा-भाव है, फिर जन्ममरण से मुक्ति कैसे हो ? कहा है—

चला लक्ष्मीश्चला प्राणाः,
चले जीविनमन्दिरं ।
चलाचले च संसारे,
धर्म एको हि निश्चलः ॥'

आप जिसके लिए प्रयत्नशील हैं; जिसके लिए माना-गौरव तथा बन्धुधर्म में पृथक् होने को तैयार हैं, जिसके लिए आप प्रयत्नमाने और जीविन बाने रथान पर जाने के लिए सज्ज हैं

उससे आप मुक्त हों और आत्मलक्ष्मी को प्रकट करके शाश्वत सुख भोगें। आप जिसके गुलाम हैं, वह तो बहती लक्ष्मी है; स्थिर लक्ष्मी तो 'आत्मा का गुण' है।

चंचल लक्ष्मी के संसर्ग आदि में रहने वाला स्वतः अपने जीवन को चंचल बनाता है। इसीलिए, वह चंचल चपला के पांव पड़ता है। चतुराई से काम लें ! और, चंचल लक्ष्मी के दारा न बनकर आप उनके स्वामी बन जाइये। इससे ऐसा काम लीजिए कि, चंचलता जाय और अचलता प्रकट हो। अचल का अंचल पकड़कर चंचल का ऐसा सदुपयोग करें कि, अन्त में अविचल-पद प्राप्त कर सकें। अविचल-पद से अनभिष्ट व्यक्ति ही चंचल लक्ष्मी में सर्वस्व का दर्शन करता है। ऐसे लोग कहते हैं—“सर्वगुणा काञ्चनमाश्रयन्ते।” (सब गुण काञ्चन में ही आश्रित हैं) जैसे-जैसे कञ्चन बढ़ता है, वैसे-वैसे वैसे गुणों में भी अभिवृद्धि होती है और ज्यो-ज्यो कञ्चन में कमी होती है, त्यो-त्यो गुणों में भी कमी होती है। ऐसा ही न ? आप क्या कहते हैं, अकिञ्चन में तो गुण होता ही नहीं ? रिजना उल्टा न्याय ? कञ्चन का लोभ तो दोष का घर है। कञ्चन न हो और उसे प्राप्त करने की छालमा न हो तो दोष उब और गुण प्रकट हो। पर, कञ्चन और कामिनो 'अर्थ' आ 'प्राप्त' में जिसे पागल बना रखा है, वह तो चाहे जो मत मान करता ?

प्राप्त क्यों चंचल है ?

उन दोष में जहाँ लक्ष्मी को चंचल बना रखा है वहाँ उन्हीं

प्रयत्न विवेकपूर्वक करना चाहिए। पर, इसके बदले इन्द्रियो के सुख के लिए आदमी क्या-क्या करता है? इन्द्रिय-सुख की यह लालसा और यह प्रवृत्ति यदि व्यक्ति को एकेन्द्रिय अवस्था में डाल दे तो क्या होगा? क्या यह विचार आपको नहीं आता है?

जीवित और हाट-हवेली की चञ्चलता :

कुछ लोग कहते हैं—“जीवन तथा मन्दिर चल है। आत्मा की अपेक्षा से जीवन चल नहीं है; पर इस शरीर की अपेक्षा से तो जीवन चंचल है न? आज तक आत्मा अनेक शरीरों में बस चुकी है। और, भविष्य में आपकी आत्मा कितने शरीरों में बसना पड़ेगा, यह तो ज्ञानी ही जाने! जीवन यदि नंचल न होता, तो मरना ही न होता। पर, मरण ही इसी से मित्र है कि, जीवन चंचल है। जीवन कब समाप्त होने वाला है, इसका कुछ भी पता नहीं है; निरूपक्रम आयुष्य वाले अपने आयुष्य भर जीवन का भोग करता है; पर सोपक्रम आयुष्य वाले के लिए तो इसने जीवन का भी निश्चय नहीं! जीवन अचरम है। इसी प्रकार मन्दिर हाट-हवेली आदि भी चंचल हैं। हाट-हवेली आदि स्वयं के जीवित रहते ही परायण हो जा सकती हैं, ध्वस्त गिर जा सकती हैं।

जड़मी तथा प्राण प्रधान होने से अलग-अलग कहे गये, पर चोखि तथा मन्दिर एक गाय कहे गये। प्राण हो तो जीवन है और जड़मी हो तो मकान आदि वैभव हैं। आप दूसरे के जीवन को छुट कर अपने जीवन को ठिक राखने का प्रयत्न

पडे। इसी लिए इस श्लोक के रचयिता ने लक्ष्मी आदि को चल कहने के पश्चात् संक्षेप में यही कह दिया कि, यह सम्पूर्ण संसार ही चलायमान है ॥

अकेला धर्म ही निश्चल है :

बाप पूछेंगे कि, यह सम्पूर्ण संसार ही चलायमान है तो क्या कोई ऐसी वस्तु भी है जो निश्चल है? एक वस्तु निश्चल है। वह क्या है? इसका उत्तर भी श्लोककार ने ही दे दिया है—'धर्म एको हि निश्चलः' (एक धर्म ही निश्चल है)। जिसे निश्चल अवस्था प्राप्त करनी हो, उसे निश्चल का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए। अनिश्चल का योग किञ्चित् मान न रहे और केवल निश्चल का ही योग रहे तो, फिर न जन्म है और न मरण है। आत्मा संसार में परिभ्रमण किया करता है, और देह आदि का परिवर्तन प्राप्त करता रहता है, पर जब आत्मा माय धर्ममय बन जाती है तो न तो परिभ्रमण रह जाता है और न देहादि का परिवर्तन रह जाता है। अतो धर्म ही निश्चल है, उस एक बात से अन्य सभी बातों पर विचार हो सकता है। पर, धर्म की व्याख्या क्या है—

“यत्तु सात्त्विको भस्मो”

—यत्तु का जो स्वभाव है उसे धर्म कहते हैं। पुद्गल का स्वभाव गन्ध-रस-स्पर्श-स्निग्धता है; पर यह स्वभाव तो निश्चल है। मिट्टी भी गन्ध में पुद्गल के इस स्वभाव में कुछ नहीं बदल पाता है। अन्ततस्तु गन्ध से प्रत्येक पुद्गल में गन्ध

हो यह प्रयत्न निश्चय ही सरल है। आप जो प्रयत्न करते हैं, वह तो उलटा प्रयत्न है। करने योग्य प्रयत्न तो वह है, जिसे टीकाकार परमपि ने बताया है।

प्रश्न : लक्ष्मी के वश में धर्म है या धर्म के वश में लक्ष्मी है ?

धर्म लक्ष्मी के वश में नहीं है। पर, यह कहा जा सकता है कि, धर्म के वश लक्ष्मी है। क्योंकि, जिस किसी ने लक्ष्मी को प्राप्त किया है, उन्होंने अपने किये हुए धर्म से ही लक्ष्मी को प्राप्त किया है, करते हैं तथा करेंगे। लक्ष्मी की प्राप्ति में धर्म यदि कारण न होता तो ऐसा क्यों होता कि, कोई कोट्याधिपति के घर पैदा होता है, तो कोई द्रविड़ के घर ? कोट्याधिपति के घर जन्म लेने वाले ने जन्मते से ही धर्म करना प्रारम्भ कर दिया, ऐसी बात नहीं है; पर यह पूर्व में कि धर्म का प्रत्यक्ष परिणाम है'। यदि यह कहा जाये कि, लक्ष्मी के वश में धर्म है तो इसका यह परिणाम होगा कि, मानना पड़ेगा कि, समस्त गरीब लोग अधर्मी होंगे और सभी लक्ष्मी-यार् धर्मी होंगे। यदि लक्ष्मी के वश में धर्म होना कहा जाये

१. अग्निं य देहो जो कर्मकारणं जो य कजमणस्म ।

अग्निं य देहकारणमग्निं य अं कजमणस्म ॥

—विशेषावश्यक गा० १८१४

आग्नीं देहकारणम् इन्द्रियाङ्गमात्रम् ।

अग्निं देहकारणम् अग्निं देहकारणम् ॥

—विशेषावश्यक गा० १८१४

हो ही नहीं सकता, ऐसा मानना पूर्णतः मिथ्या है। यदि वह मान लिया जाये कि, लक्ष्मी हो तभी धर्म हो सकता है; तो कहना पड़ेगा कि, साधुओं से तो धर्म हो ही नहीं सकता, क्योंकि साधुओं ने तो अपने पास की भी लक्ष्मी का त्याग कर दिया है और लक्ष्मी प्राप्ति की वृत्ति का भी त्याग कर दिया है। साधु अपने पास लक्ष्मी रखता नहीं, अन्य के पास रखाता नहीं और 'जो लक्ष्मी रखता है, वह अच्छा करता है' इस बात को स्वीकार भी नहीं करता। फिर, साधुओं को पूजने वाले और निर्गन्ध साधुओं को ही धर्म मानने वाले भला यह कैसे स्वीकार कर सकते हैं कि, 'लक्ष्मी हो तभी धर्म हो सकता है' ? साधु-धर्म का पालन करने वाले धर्मों और गृहस्थ-धर्म को पालन करने वाले धर्माधर्मों ! इसका कारण यह है कि, साधु तो नेत्रल धर्म का ही सेवन करने वाला होता है और अधर्म का सर्वथा त्यागी होता है। और, गृहस्थ-धर्म का पालन करने वाला तो थोड़े प्रमाण में धर्म का पालन करने वाला होता है और अधर्म का सर्वथा त्याग नहीं करता। यदि आप यह कहें कि, 'लक्ष्मी हो, तभी धर्म हो सकता है,' तो यह बात साधुओं की ओर से सत्य नहीं है; पर गृहस्थों की अपेक्षा से यह सत्य है कि, 'लक्ष्मी हो, तो धर्म हो सकता है।' पर, गृहस्थ की ओर से भी यह नहीं कहा जा सकता कि, 'लक्ष्मी हो तभी धर्म हो सकता है'; क्योंकि द्रिष्टि-से-दृष्टि व्यक्ति भी यदि धर्म का धर्म कर सकता है। धर्म-नेत्रन की यदि भावना हो तो

ही दान होता है', ऐसा नहीं है। दान लक्ष्मी से नहीं होता, पर लक्ष्मी के त्याग से होता है। धर्म लक्ष्मी के त्याग में है। लक्ष्मी के राग से अथवा उसके राग में धर्म नहीं है। धन का राग तो अधर्म ही है। उसकी मूर्च्छा घटे और उसका सदुपयोग करने को मन हो, तभी अच्छा दान सम्भव है। पौद्गलिक लालसा से दान तो एक सौदे के समान है। दान-धर्म तो वह है, जो लक्ष्मी के त्याग की वृत्ति से, जो आत्मा के श्रेय साधने की दृष्टि से विवेकपूर्वक दिया जाये। ऐसी स्थिति में यदि धन हो तो विवेकी आत्मा उसे धर्म का साधन बना सकती है। विवेक लक्ष्मी-सरीखी वस्तु को तारने वाली चीज बना सकता है। अतः कहना चाहिए कि, यह प्रमाण लक्ष्मी का नहीं पर, विवेक का है। धन हो तो इस रूप में उसका उपयोग किया जा सकता है, यह सत्य है, पर दान के लिए धन कमाने का विधान नहीं है। शास्त्रकारों का उपदेश दान का—धन के त्याग का है। धन कमाने का, धन की वृद्धि करने का अथवा धन संग्रह करने का नहीं है। पुण्योदय से लक्ष्मी मिली हो, धन हो, तो उसके सदुपयोग का अर्थात् मिले धन को दान द्वारा सार्थक करने का उपदेश शास्त्रकारों ने दिया है। दान के लिए कमाना तो पैर को जलुबि म्यान में स्पर्श करा कर घोने अथवा जबरदस्ती बीमार बनकर दवा करने-या काम है। पैर गन्दा हो गया हो, हाँ घोंटा होता है, कोई बीमार हो गया हो तो दवा पाना भी होता है, घोंटे के लिए पैर को गन्दा करना अथवा दवा पीने के

प्रदर्शित किया है, यह उनका बड़ा उपकार है।' और, ऐसा लगे नहीं तो फिर स्तुति करने की प्रवृत्ति फिर कहां से आये? जब एक मात्र रुचि मुक्ति साधने की होती है; तभी जीव की दृष्टि मुक्ति-मार्ग प्रदर्शित करने वाले भगवान् पर सच्चे रूप में पड़ती है। भगवान् के उपकार का ज्यों-ज्यों भान होता है, त्यों-त्यों तारक भगवान् की स्तुति करने को मन होता है। इसके बाद क्रम से मन-वचन-काया के योगों को शुद्ध बना कर, कोई भी व्यक्ति योगों को इन तारको की स्तुति में एकतान बना सकता है। जिसे संसार के त्याग की बात न रुचती हो, वह सच्चे रूप में भगवान् की स्तुति कर ही नहीं सकता। इसलिए, भगवान् की स्तुति करने की योग्यता के लिए भवनिर्बन्धों की पहली आवश्यकता है।

पन्द्रह विशेषणों की स्तवना :

महाविरागी, महात्यागी तथा परम उपकारी श्रीमद् अभयदेव मूरीश्वरी महाराज ने प्रयत्नपूर्वक श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति करने हुए, तारक भगवान् को शुद्ध भाव से उत्सामपूर्वक नमस्कार करने हुए, तारक भगवान् के लिए १५ विशेषणों का प्रयोग किया है। इस प्रकार भगवान् के गुणों की स्तवना करके साधन-साधक दोनों तारक भगवान् का परिचय कराया है। श्री भगवतीजी सूत्र का टीका रचने के लिए उत्सुकता रखने वाले टीकाकार भगवान् श्री अभयदेवमूरीश्वरी जी महाराज ने आत्मनः में महान् साधरण करते हुए कहा है—

हैं। उसी प्रकार थोड़े विशेषणों में अधिक विशेषणों के भाव समाये जा सकते हैं। हम पहले विचार कह जाते हैं कि, 'त्रिपदी' मात्र में सम्पूर्ण द्वादशाङ्गी का समावेश हो जाता है, पर 'त्रिपदी' मात्र से सम्पूर्ण द्वादशाङ्गी की रचना का सामर्थ्य तथा उस प्रकार का क्षायोपशमिक बल तो श्री गणेश भगवान् की आत्माओं में ही होता है। इसलिए, भगवान् श्री जिनेश्वरदेव के लिए मात्र १५ विशेषणों का ही व्यवहार हो सकता हो, ऐसा नहीं है। पर, इन १५ विशेषणों में संस्पर्श विशेषणों अथवा कहें अनन्तानन्त विशेषणों का समावेश हो जाता है।



महाकष्टम् ।' ज्ञान से ही सच्चा सुख है । मंगलाचरण में श्री जिनस्तुति में सर्वप्रथम 'सर्वज्ञ' विशेषण रखकर ज्ञान और ज्ञानी दोनों की स्तवना टीकाकार परमर्षि ने की है, क्योंकि ज्ञान से परममंगल कुछ नहीं है । केवलज्ञानी ही सर्वज्ञ हो सकता है । केवलज्ञानी भगवन्त जगत के चराचर, स्त्री तथा बह्वर्णी द्रव्यों को और पर्यायों के जानकार होते हैं । ऐसा नहीं है कि, केवलज्ञानी केवल 'लोक' को जानते हैं । वह वस्तु 'अलोक' को भी जानते हैं और उनके अगुरु-लघु पर्यायों के भी जानकार होते हैं । सर्वकाल का अर्थात् अनन्तानन्त-भूतकाल, वर्तमानकाल तथा अनन्तानन्त-भविष्यकाल के सर्व द्रव्यों के सर्वपर्यायों के जानकार केवलज्ञानी भगवन्त होते हैं । यह केवल-ज्ञान का अद्भुत सामर्थ्य है । हम इसे इस रूप में भी कह सकते हैं कि, एक द्रव्य के सर्वकाल के और सर्वक्षेत्र के, सर्वप्रकार के पर्यायों को जो जाने वह केवलज्ञानी भगवन्त है । क्योंकि, सर्वद्रव्यों के सर्वकाल और सर्वक्षेत्र के, सर्वप्रकार के, सर्व पर्यायों को जाने बिना एक द्रव्य के सर्वकाल के, सर्वक्षेत्र के सर्वप्रकार के सर्वपर्यायों को नहीं जाना जा सकता ।

१. जे एगं जाणइ मे मयं जाणइ, जे मयं जाणइ मे एगं जाणइ ।

—अनन्ताश्रयसूत्र भु. १, अ. ०, सूत्र २०१, पृ. ५६

'मयं जाणइ मयं' (अग्नीश्रयसूत्र जैन-संग्रहादि, पृ. ५) के १६
अर्थ :—मयं ६ ।

एगो भाषा. सर्वथा तेन हए, सर्वे भाषा. सर्वथा तेन हए ।
एगो भाषा. सर्वथा तेन हए, सर्वे भाषा. सर्वथा तेन हए ॥

होने वाले हैं।' भाव यह है कि, वर्तमान काल में इस क्षेत्र में सर्वज्ञ नहीं हैं।' पर, महाविदेह में इस काल में भी सर्वज्ञ हैं। महाविदेह में भूतकाल में सर्वज्ञ रहे हैं; वर्तमान में सर्वज्ञ हैं और भविष्य में होंगे भी।

सर्वज्ञ बने बिना सर्वज्ञ को जाने कैसे ?

यदि कोई कहे कि, इस काल में कोई सर्वज्ञ हो तो बताइए, तो भला मैं क्या बताऊंगा ? जिसका इस क्षेत्र में और इस काल

१—भविष्य में होने वाले तीर्थंकर—

(१) पद्मनाभ, (२) सूरदेव, (३) सुपार्व, (४) सारंगभ, (५) स्वानुभूति, (६) देवश्रुत, (७) उदय, (८) वेङ्ग, (९) गोद्विज, (१०) शक्तीति, (११) मुक्त, (१२) अण्ण, (१३) अत्थाय, (१४) निष्पुलाक, (१५) निर्मम, (१६) निगुम, (१७) समाधि, (१८) सनर, (१९) क्षीर, (२०) निग्म, (२१) मल, (२२) देव, (२३) अण्ण, (२४) भद्र ।

श्रीमद्भागवत पृष्ठ ६२७ ६३२

२—वाराणसी में गोश्रम, मित्रों वाराणसी धीमहि मुदम्मा ।

वाराणसी जाय बुद्धिमान् तत्र दस टाणा ॥

गण १, परमेश्वर २, पुत्राण ३, आहार ४, सत्य ५, उत्तम ६, कर्म ७, मन्त्रनिष्ठ ८, वेद ९, मित्रता १०, य जगति बुद्धिमान् ।

—पद्मसूत्र सूक्तिका टीका, पृष्ठ ११०-२

स्योपशम सधता है। इससे मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान का समुचित विकास होता है। पर, आज व्याख्यान सुनने की आपकी रीति ऐसी है कि, जितना लाभ होना चाहिए, उतना लाभ नहीं हो पाता। आपमें नित्य आने का नियम नहीं है। आप आये तो व्याख्यान प्रारम्भ होने से पूर्व आये और अन्त तक व्याख्यान सुने, जितनी भी देर आप व्याख्यान सुने उतनी देर पूर्णतः दत्तचित्त होकर सुनें और जो कुछ सुने उस पर विचार करके आत्मसात् करने का प्रयत्न करे तो फिर चाहे जैसा भी चादी हो आपको पराजित नहीं कर सकता।

मर्त्यं विना सर्वज्ञ का सर्वथा निषेध नहीं होता :

यदि कोई आपसे यह कहे—'किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में, कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ होता ही नहीं', तो आप तुरंत कह सकते हैं, 'यदि आप अपने ज्ञान के आधार पर निश्चयपूर्वक यह जान यह रहे हैं, तो ऐसा कहना चाहिए कि, आप ही सर्वज्ञ हैं।' अब आप विचार करे कि, ऐसे व्यक्ति को हम सर्वज्ञ क्यों कहते हैं? इसका कारण यह है कि, यदि उनके ज्ञान की बात सच है, तो इसका अर्थ हुआ कि, उनको सर्व क्षेत्रों का ज्ञान है। ऐसा एक भी क्षेत्र नहीं है, जिसका इनका ज्ञान नहीं। यह बात इनके कथन से ही सिद्ध है। उमरा जयत है कि, किसी भी क्षेत्र में सर्वज्ञ नहीं है। अतः हम उनको सर्वज्ञ का कारण सर्वज्ञ कहते हैं कि, यदि उनको वास्तव में सर्वज्ञ का ज्ञान है और ऐसा

सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकते ? और, यदि आपको सर्व क्षेत्रों का ज्ञान हो, तो सर्व क्षेत्रों के ज्ञान के प्रमाण आप स्वयं हैं ।

कालाश्रित स्पष्टीकरण :

इस प्रकार क्षेत्र-सम्बन्धी बात को प्रमाणित करने के बाद काल-सम्बन्धी बात लेनी चाहिए । यदि कोई काल की दृष्टि से सर्वज्ञों के अभाव की बात करे तो इससे पूछना चाहिए—'भाई ! आप वर्तमान काल को लेकर सर्वज्ञ के अभाव की बात कहते हैं या सर्वकाल को लक्ष्य में रखकर कह रहे हैं । यदि आप वर्तमान को लक्ष्य में रखकर यह बात कह रहे हैं, तो आपको यह मानना पड़ेगा कि जो द्रव्य, जो पर्याय वर्तमान काल में नहीं है, वह द्रव्य, वह पर्याय न तो भूतकाल में था और न भविष्य में होगा । आपका यह मानना ठीक नहीं है, कारण कि, जब मैं आप जन्मे तब मैं अब तक आपने स्वयं अत्यल्प अवस्यान्तर नहीं भोगा है । जगत में द्रव्य के पर्यायों में फेर-फार हुआ ही पत्ता है, यह तो आप भी मानते ही हैं और सभी इसका अनुभव भी करते हैं । पर, यदि आप केवल वर्तमान का नहीं, बल्कि सर्वकाल की दृष्टि में रखकर सर्वज्ञों के अभाव की बात करते हैं तो इस कथन में ही सिद्ध है कि, सर्व द्रव्यों के सर्व पर्यायों का ज्ञान सम्भव है । यदि आपको सर्व द्रव्यों का सर्व पर्यायों का ज्ञान न हो तो आपका सर्वज्ञत्व के अभाव की बात कहना मिथ्या है । और,

ज्ञानावरणीय कर्म :

श्री जैन-शासन तो ज्ञान को आत्मा के एक गुण के रूप में स्वीकार करता है ।^१ आत्मा के गुणों की स्थिति को दर्शित हुए सर्वज्ञ-शासन का कथन है कि, अनादिकाल से आत्मा का गुण आवरित है^२ । जड़ कर्मों के योग से आत्मा का गुण आवरित है^३ । जो कोई आत्मा इस स्थिति को समझे तो अपनी आत्मा को आवरित करने वाले कर्मों से मुक्त बनाने की इच्छा वाला बने, आत्मा को कर्मों के योग से मुक्त बनाने का सच्चा उपाय जाने

१. सुत्ताइभायभो नोवलद्धिमंतिदिंयाइ कुंभो व्व ।
उवल्लभद्वाराणि उ ताइ जीवो तदुपलद्धा ॥
तदुपरमे वि सरणभो तज्जावारे विनोवल्लभो ।
इंदियभित्तो णाया पंच व वत्तोवल्लद्धा वा ॥
विशेषावदयक—गा० १९६५-९९

२. एयं पगामसइभो जीवो छिदावभासपत्ताभो ।
कंथिमोत्तं भासइ छिदावरणपईवोव्व ॥ २००० ॥
मुञ्चदुपरं विपाणइ सुत्तो सन्नपिहाणविगमाभो ।
अवगोयगो एय नरो विगयावरणो पईवो व्व ॥ २००१ ॥
अण्ण ना नाणमभोऽयं जीवो नाणावघाड चाररण ।
अण्णमण्णमाइकारि सन्नावरणसण्ण सुत्तो ॥ २००२ ॥

३. विगयावरणं म एतत् प्रदान उदाया गया है कि, जन्मों आभा १९
मूर्तियों या प्रभावों में पड़ता है । इसका उन्मूलन इस द्वारा
होता है ।

जय विगयावरणं सदाशानो महाइदि ॥ १९३० ॥
१९, ३० इत्यादि शब्दों का जन्मों विज्ञान पर प्रभाव होता है ।

आत्मा का ज्ञान-गुण सर्वथा आवरित नहीं होता । कम-से-कम ज्ञान-गुण का अनन्तवां भाग तो सर्वकाल में अनावरित ही रहता है । यदि ज्ञान-गुण सर्वथा आवरित हो जाये तो चेतनपना ही न रह जाये । और, मात्र जड़पना आ जाये । यद्यपि चेतन जड़ नहीं होता और जड़ चेतन भी नहीं होता, पर जड़ आवरण से चेतन लगभग जड़-सा अवश्य हो जाता है । लगभग जड़-सरीखी अवस्था कहने का कारण यह है कि, चेतन के ज्ञान-गुण का अनन्तवां भाग अनावरित रह जाना और शेष सम्पूर्ण ज्ञान का जड़ कर्म के योग से आवरित होना शक्य है । इससे यह सिद्ध हुआ कि, जितना ज्ञानाभाव उतना ही जड़पना । और, जितना ज्ञानगुण का विकास उतना ही चैतन्य प्रकाशमान ॥ आपमे कितनी जड़ता है और कितना चेतन का विकास है ? इसे आप ही शोध निकालें । आपकी जड़ बनना भला लगता है या चेतन का विकास अच्छा लगता है ? ज्ञानगुण को आवरित करने वाले कर्म को हटा कर ज्ञानगुण को प्रकट करने की आपकी अभिलाषा कितने प्रमाण में है ?

ज्ञानगुण पर मोहनीय कर्म किस प्रकार प्रभाव डालती है :

दूसरी बात यह है कि, आत्मा के ज्ञानगुण पर केवल ज्ञानावरणीय कर्म का ही प्रभाव होता हो, ऐसा नहीं है । उन

१. आत्मविद्या या योग, स्वरूपतोऽगुणित मूर्तिमान् ॥

२. चेतन विमलविमलित या न ज्ञानादिनष्ट ॥

—विश्वनाथस्य भाष्य भाग १११

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपर
जगत के द्रव्यों और उनके पर्यायों के
मोहनीय कर्म का उदय एक प
उसका फल यह होता है कि, ज्ञान
है; पर वह जो कुछ देखता है वह
है। इसके फलस्वरूप वस्तु का
दिखता कुछ और है। जैसे अच्छी
पहन लेने से सफेद रंग की भी व
काली दिखाती है। इसमें दोष
घुप के चश्मे के रङ्गीन कांच क
ही कारण व्यक्ति को मिथ्या भा
आँख वाले को भी जब कमला रो
पीली दिखती है। इसी प्रकार ज्ञा
हुआ हो, पर इसके बावजूद जितने
कर्म का उदय होगा, उतने ही
भास होगा। इस प्रकार के विषय
मिथ्या ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—आँख में लगने से चश्मा

चश्मा आँख में कोई नयी
चश्मे के बिना जो पन्तु लोड़ी लगा
जहाँ धर्म की मन्त्रालय से चली
होगी है। इसी प्रकार मिथ्या

सम्यग्दर्शन गुण प्रकट ही नहीं होता । राग तथा द्वेष के गाढ़ परिणाम-रूप ग्रन्थि को जब अपूर्व कारण से भेदे तभी सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है । सम्यग्दृष्टि का ज्ञान अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वमोहनीय का विपरीत नाम कराने वाला पड़दा बीच में नहीं आता । सर्वज्ञ बनने के लिए ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम तथा मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षयोपशम पहले करना आवश्यक है । और, सर्वज्ञपना तो चारों घाती कर्मों के क्षीण होने पर ही होता है ।

इसमें आप समझ गये होंगे कि, जगत में अल्पज्ञ, विपरीतज्ञ, सम्मग्नानी, विनोपज्ञ और सर्वज्ञ किस प्रकार होते हैं । ज्ञान यदि सूक्ष्म-सूक्ष्म आवरित हो तो अल्पज्ञ होता है; ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर भी यदि मिथ्यात्व मोहनीय का उदय हो, तो विपरीतज्ञा होगी; ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के साथ-साथ यदि मिथ्यात्वमोहनीय का भी उपशम हो, तो व्यक्ति सम्मग्नानी कहा जाता है, ऐसा सम्मग्नानी ज्ञानावरणीय कर्म का अधिक-नी-अधिक क्षयोपशम साधने का योग पड़े तो अविनोपज्ञानी बने और यदि यह आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म का सम्पूर्ण शम कर उठे तो वह सर्वज्ञ बनती है । जगत में आत्मा-आत्मा में ज्ञान की सन्तुलना प्रकट होती है । गुण में गुण बहकर अज्ञानाधी आत्मा होती है, उग साग में कोई दूध-साग नहीं कर सकता । प्रकृत विनोप में ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता है । उगने यह बात निश्चिती है कि, अज्ञानी में प्रकट नहीं हो पाता । ज्ञान ही ज्ञान प्रकट होता है ।

कामदेव को भी कहते हैं, 'जिन' शब्द का प्रयोग बुद्ध' के लिए भी होता है, पर ये दोनों ही असर्वज्ञ हैं। इसलिए स्पष्टीकरण के लिए तारक तीर्थङ्कर भगवान् के लिए (जिनको 'जिन' कहते हैं,) सर्वज्ञ विशेषण का प्रयोग करना आवश्यक है। गौतम गुप्त ने अहिंसादि की बात की है। बौद्ध-धर्म के अनुयायी, सम्भव है अपने दृष्टदेव का सर्वज्ञ के रूप में परिचय करायें; क्योंकि वे सोचते ही उन्हें असर्वज्ञ रूप से स्वीकार करें तो उनके देव का ज्ञान अपूर्ण भिन्न हो ! और, जिसका ज्ञान अपूर्ण रहे, उसका शासन भी अपूर्ण रहेगा।

प्रश्न—जिसे सम्पूर्ण ज्ञान न हो, ऐसा व्यक्ति अपने द्वारा स्वयं रूप में प्रस्थापित धर्म को मानता कैसे है ?

जिसे सर्व द्रव्यों का और सर्व पर्यायों का ज्ञान न हो, उसका स्वयं स्थापित रूप में प्रस्थापित धर्म स्वीकार नहीं किया जा सकता; पर संसार में ऐसे कितने ही धर्म-प्रस्थापक हो चुके हैं और ऐसे व्यक्तियों द्वारा प्रस्थापित धर्म के मानने वाले भी बहुत बड़ी संख्या में होते हैं। जगत के जीवों के लिए यदि मात्र सर्वज्ञ-

१. 'जिन' शब्द का प्रयोग बुद्ध के लिए २३२, तथा आगरतोय संहिता (अष्टादश स्कंध) पृष्ठ ५६, ५७ पर १३

२. 'जिन' शब्द का प्रयोग बुद्ध के लिए २३२, आगरतोय संहिता की संज्ञा ५६, ५७ पर १३, १४ पर १३, १४ पर १३, १४ पर १३

'अष्टादश स्कंध' में ५६, ५७ पर 'जिन' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिस पर १३, १४ पर १३, १४ पर १३

वह तो ठीक, पर सर्वज्ञ के शासन को न प्राप्त हुए व्यक्ति यदि निराग्रही और समझदार हो, तो वह अपनी बुद्धि से समझ सकता है कि, 'यदि दया करनी हो, तो जीव की जाति जाननी ही चाहिए।' एक ओर तो बुद्ध-धर्म दया पालन की बात करता है और दूसरी ओर जीवों के स्थान और जीवों की उत्पत्ति की रीति आदि के सम्बन्ध में बताने वाले की ठिठोली करने में आनन्द का अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति भी क्या सर्वज्ञ कहा जायें? सर्वज्ञ तो कहा ही नहीं जा सकता; पर उसके नाय-ही-नाय ऐसा व्यक्ति दया पालन की सभी वृत्ति वाला भी नहीं माना जा सकता।

'वत्स्पति में जीव नहीं है', कहकर बुद्ध ने वनस्पति-भक्षण की अनुमति दी है और चाहे जितना सचित्त पानी व्यक्ति पिये, उसका निषेध नहीं किया है। आज के वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि, वनस्पतियों में भी जीव है। आज के वैज्ञानिकों ने सूक्ष्मीक्षण यंत्र में प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया है कि, एक बिन्दु पानी में गहरी जीव रहते हैं—ये जलमय जीव हैं। जिन सामान्य पौधों में रहता है कि, स्वयं जल ही जीवमय है। और, जब का एक बृहत् जल-मय देह को भाक्षण करने वाले जलमय जीव का देख-भाल है। इन जीवों की जाति सूक्ष्म-विज्ञान यंत्र से भी नहीं देख सकते। इस जल-मय देह में जलमय ही जल और मृत्तु को प्राप्त करते हैं। जलमय, मृत्तुमय, वायुमय, अग्निमय, अकारमय के सिद्ध करने जलमय

सरोवर के तट पर जलपान के लिए जाते हुए गिर पड़े। उसके बाद उनका विचार बदल गया। तपश्चर्या इन्हें निस्तत्त्व लगा। फिर, उन्होंने ज्ञान प्राप्त ही नहीं किया। सर्वज्ञता प्राप्त नहीं की और स्वतन्त्र रूप में अपना धर्म चलाने लगे। अतः यदि वह सर्वज्ञपने का मजाक न करे तो चले कैसे? बुद्ध को दया तो अच्छी लगती थी, तो यह विचार नहीं सूझा कि, यदि जीवहिंसा से बचना हो और जगत मात्र को जीवहिंसा से यदि बचाना हो तो जीव के समस्त स्थानों को जानना ही चाहिए; क्योंकि, सजीव और निर्जीव के ज्ञान के बिना जीव-हिंसा मात्र से भला कैसे बचा जा सकता है।

प्रथम विशेषण सर्वज्ञ क्यों ?

यह मन तो प्रासन्निक बात हुई। अपना मुद्दा तो यह है कि, यहाँ टीकाकार महाशुद्ध उस 'जिन' की स्तुति के लिए प्रस्तुत हुए हैं, जो जिन सम्पूर्ण जानी हो। इसीलिए, इस स्तुति में पहले 'सर्वज्ञ' विशेषण रखा। अवधियानियों तथा मनः परमवर्णानियों को भी ज्ञानों में जिन-मन में वर्णित किया गया है। इसीलिए यदि 'सर्वज्ञ' विशेषण न होता, तो स्वयं जिस 'जिन' की स्तुति पहले ही दृष्टा है, उम्मे जिन 'जिनो' का भी उसमें समावेश हो जाता। और, यह टीकाकार महाशुद्ध को दृष्ट नहीं था। क्योंकि, टीकाकार महाशुद्ध ने स्वयं पहले 'सर्वज्ञ' विशेषण प्रस्तुत किया है।

चक्र में न पड़ जाये जो स्तवन योग्य नहीं है, और दूसरी ओर इस बात की आशंका रहेगी कि, जो स्तवन के योग्य है, उसकी स्तवना वह सच्चे रूप में न कर सकेगा। जिसे गुण और दोष का सच्चा ज्ञान है, वह ऐसे किसी की स्तवना नहीं करता कि, जिसने पाँच परमेश्वरों से किसी एक पद की आत्मिक योग्यता न प्राप्त की हो। आजकल तो जिस किसी की भी हो स्तवना करने की सनक चल पड़ी है। 'कौन स्तवनीय है', और 'कौन स्तवनीय नहीं है', इसका विवेक न होने के कारण, कितनी बार तो अस्तवीनयका स्तवन इस प्रकार किया जाता है कि, उन स्तवना के द्वारा सभी स्तवनीय आत्मा की आशा-सना हो जाती है। और कोई अन्य ज्ञान न हो; पर एक नवकार मन्त्र का भी सम्पूर्ण रूप में ज्ञान हो, तो फिर ऐसी भूल नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि, नवकार-मन्त्र में धरिहंत आदि पाँच परमेश्वरों को ही नमस्कार किया गया है। और, पाँच परमेश्वरों को किया गया नमस्कार ही सर्वपापों के नाशक के रूप में और सर्व मङ्गलों में मङ्गल-रूप में वर्णित है।

१. शरीर अविनाश

शरीर विनाश

शरीर अविनाश

शरीर अविनाश

शरीर अविनाश

शरीर अविनाश, शरीर अविनाश, शरीर अविनाश ।

शरीर अविनाश, शरीर अविनाश, शरीर अविनाश ॥

अवस्था प्राप्त की है। इस प्रकार श्री अरिहंत भगवान् मार्ग-दर्शक के रूप में अजोड़ और श्रेष्ठ उपकारी होने के कारण पाँच परमेष्ठियों में प्रथम परमेष्ठी के रूप में पूज्य हैं, स्तवनीय हैं तथा नमस्करणीय हैं। इस जगत के जीवों पर श्री अरिहंत भगवान् ने जो उपकार किया है, उस उपकार के रहस्य को जानने वाले ज्यो-ज्यों मङ्गल-मथ पर आचरण करने का प्रयास करते हैं, त्यो-त्यो सबसे पहले वे श्री अरिहंत भगवान् को स्मरण करते हैं। इन तारक भगवान् के उपकार को जानने वाले के हृदय में सदा इन तारक भगवान् की स्तवना ही होती रहती है। पर, अवसर-अवसर पर यह स्तवना प्रकट रूप प्राप्त कर लेती है। तदनुसार इस श्री भगवतीसूत्र की टीका की रचना करने के भगीरथ कार्य करने के लिए उद्यत आचार्य-भगवान् श्रीमद् अभयदेवमूरीश्वरजी महाराज के हृदय में तो श्री अरिहंत देव की स्तवना तो चालू ही रहती थी, पर निमित्त पाकर उक्त महापुरुष के हृदय में शिका हम स्तवना ने टीका के आरम्भ में प्रकट-रूप को प्राप्त किया।

मार्ग तो मिल जाने के पश्चात् देवतत्त्व में गिने जाते हैं, पर अरिहंतदेव तो पहले से ही देवतत्त्व में गिने जाते हैं :

भगवान् श्री अरिहंतदेव की स्तवना करते हुए प्रथम श्लोक में शब्द 'मार्ग' का प्रयोग करने का एक कारण यह है कि, वे भगवत् अवस्था में गिने जाते हैं। भा. में सर्वस्वना प्राप्त श्लोक दिखे [अथ भगवत्त्वं भगवत्त्वं श्री अरिहंतदेवक सर्वस्वना]

अतिरिक्त केवलज्ञानी आत्माओं का समावेश देवतत्त्व में नहीं होता है ।

प्रश्न : तो केवलज्ञानी भगवन्तो का समावेश किस तत्त्व में होता है ?

केवलज्ञानी भगवत (जो अरिहंत नहीं हैं, ऐसे पुण्य पुरुष) जब तक निद्वगति नहीं प्राप्त करते, तब तक गुरुतत्त्व में समाविष्ट माने जाते हैं । और, सिद्धगति प्राप्त करने के पश्चात् सिद्ध के रूप में उनका समावेश देवतत्त्व में होता है । टीकाकार महर्षि श्री जितेश्वरदेव को उद्देश्य में रखकर जिनस्तुति करते हैं । उन्होंने सब से पहले सर्वज्ञ कहा—अर्थात् जो असर्वज्ञ हो, उनके लिए यह स्तुति नहीं है, यह सूचित किया । 'जिन' शब्द में बोधित कामदेव आदि के लिए यह स्तुति नहीं है, यह सूचित किया है । फिर, 'ईश्वर' विशेषण के द्वारा टीकाकार ने यह सूचित किया कि, यह स्तुति ऐसे 'जिन' की नहीं है, जो मान सर्वज्ञ हो, बल्कि यह ऐश्वर्ययुक्त सर्वज्ञ की है—अर्थात् भगवान्, अरिहन्तदेव की यह स्तुति है । भगवान् श्री अरिहन्तदेव के शक्ति तथा के स्वामी के पश्चात् 'ईश्वर' विशेषण के द्वारा टीकाकार महर्षि ने श्री अरिहन्तदेव के बाह्य ईश्वरों की स्तुति की है ।

प्रश्न : ईश्वर के नाम और शक्ति की स्तुति का उपयोग हमें तब तक करना चाहिए जब तक कि हमें अद्वितीयता नहीं मिले ।

जिसे हमें ईश्वर के नाम और शक्ति के पश्चात् प्राप्त होनी चाहिए । परन्तु ईश्वर का नाम

के पोषण की शक्ति है। यह ऐश्वर्य मुंझवश नहीं करता; पर उसके मूच्छा को उतार फेंकता है। इसीलिए, श्री जिनेश्वर भगवान् का बाह्य सौंदर्य स्तवने योग्य है।

तीर्थङ्कर-नामकर्म :

भगवान् श्रीजिनेश्वर देवो को जो बाह्य ऐश्वर्य प्राप्त होता है, वह इन तारक भगवान् द्वारा निकाचित तीर्थङ्कर-नामकर्म के उरय से प्राप्त होता है। भूमि अच्छी हो, बीज अच्छा हो, मिचाई अच्छी हो, तभी बीज में से अच्छा पौधा पैदा होता है और उस वृक्ष का फल मधुर होता है। इसी प्रकार तीर्थङ्कर-नामकर्म बंधता है, इसी प्रकार निकाचित होता है, और इस प्रकार के कर्म के फलस्वरूप जो प्राप्त होता है, वह उमको तो लाभ करता ही है और उसी के साथ-साथ जगत के नगरज जीवों को लाभ करता है। श्री अरिहन्तादि बीस स्थानों की उदात्त कोटि का आराधना ही तीर्थङ्कर-नामकर्म का बीज है। जिसका अन्तःकरण स्व-पर की दया से गांधी गये हुआ है, ऐसा जीव इन स्थानों को आराधना नहीं कर सकता। इस कारण यह बीज विवेकहीन और दयाहीन भूमि में ही स्थान पाता ही नहीं। विवेक-मम्पत टोकर स्व-पर की दया से दया का अन्तःकरण वांटे जीव वांटे तो बीस स्थानों की उदात्त कोटि निर्मल आराधना करे और वांटे तो बीस में से एक ही आराधना करे। पर, इस आराधना के योग से यह उदात्त कोटि दया का बीज ही तीर्थङ्कर नामकर्म के बीज का

प्रश्न : इसका अर्थ यह हुआ कि, श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म बाँधने के बावजूद, यदि वह निकाचित न हुआ, तो वह बिना भोगे ही निर्जस्त हो जायेगा ?

ठीक है, जिस किसी आत्मा ने श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म का दलिया उपाजित किया है, वह उसे अवश्य निकाचित करे और उसे वह अवश्य भोगे, ऐसा नियम नहीं है। कोई ऐसा निमित्त मिल जाये और इस प्रकार तीर्थङ्कर-नामकर्म के दलिये का उपाजित करने वाली आत्मा आराधना-भ्रष्ट हो जाये, पतन को प्राप्त हो जाये तो उसका तीर्थङ्कर-नामकर्म की उपाजित दलिया बिगड़ जाती है।

श्री कमलप्रभ-नामके एक महान् आचार्य भगवान् हुए हैं। सर्वज्ञनामन के ये परम उपासक और परम रक्षक हुए हैं। इन आचार्य भगवान् ने उत्सूय-प्रसक्तों को परामर्श करके अनुसम दास्य प्रभावना की थी। उस प्रकार उन्होंने तीर्थङ्कर-नामकर्म का दलिया उपाजित किया। पर, एक बार इनके शिष्यों ने जान रखा। उनमें वह फैल गये और उन्होंने उत्सूय-

प्रश्न : इसका अर्थ यह हुआ कि, श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म का दलिया उपाजित किया है, वह उसे अवश्य निकाचित करे और उसे वह अवश्य भोगे, ऐसा नियम नहीं है। कोई ऐसा निमित्त मिल जाये और इस प्रकार तीर्थङ्कर-नामकर्म के दलिये का उपाजित करने वाली आत्मा आराधना-भ्रष्ट हो जाये, पतन को प्राप्त हो जाये तो उसका तीर्थङ्कर-नामकर्म की उपाजित दलिया बिगड़ जाती है।

संसार के एक-एक जीव को मैं शासन-रसिक बनाये बिना नहीं रहूँ—अर्थात् 'इस जगतमें मैं किसी को दुःखी न रहने दूँ और सभी को सुखी बना दूँ'—ऐसी भावदया होने पर ही तीर्थङ्कर-नामकर्म निकाचित होता है। इस रीति से बाँधे हुए और निकाचित किये हुए श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म का उदय, अपने स्वामी को अजोड ऐश्वर्य का स्वामी बना देता है। इसमें कोई नयी बात नहीं है। ऐसा ऐश्वर्य जगत का तारक बने इसमें भी क्या नवीनता है !

भगवान् की आत्माओं की सर्वोत्तमता :

पुण्यकर्म के अनेक प्रकार हैं; उनमें श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म-रूप पुण्यकर्म तो पुण्यकर्मों में सर्वोत्तम कोटि का है। 'इस प्रकार के पुण्य कर्म के प्रताप से जितना और जैसा ऐश्वर्य प्राप्त होता है, वैसा ऐश्वर्य अन्य किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं हो सकता,' यह बात जितनी मुनिशिव है, उसी प्रकार यह मुनिशिव है कि, 'इस प्रकार के पुण्य कर्म के प्रताप से प्राप्त ऐश्वर्य जितना और जैसा स्व-परका उपकारक सिद्ध होता है, उतना और वैसा उपकारक अन्य किसी भी प्रकार के पुण्य कर्म के प्रताप से प्राप्त ऐश्वर्य नहीं हो सकता है।' इससे आप यह समझ सकते हैं कि, जो पुण्यकर्म इस प्रकार पुण्य कर्म का शिखर माने में मान्यता प्राप्त करती है, वे पुण्य कर्म तो सर्वोत्तम होते हैं तथा उनकी भावना अजोड होती है। जिस प्रकार अन्य जन्मात्मा की भावना अनादि-

भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की आत्मा अपने अन्तिम भव से तीसरे भव में अवश्य बोधि प्राप्त करती है। ये तारक अपने अन्तिम भव से तीसरे भव से पूर्व भी बोधि प्राप्त करते हैं; ऐसा होता है; पर अधिक-से-अधिक तीसरे भव में तो ये तारक अवश्यमेव बोधि प्राप्त करते हैं। तीसरे भव से पूर्व, यदि इन तारकों ने बोधि की प्राप्ति की हो तो यह सम्भव है कि, पुनः मिथ्यात्व का उदय हो जाये; पर तीसरे भव में बोधि प्राप्ति के बाद पुनः मिथ्यात्व का उदय नहीं होता। तीन भव से पूर्व बोधि प्राप्त हुआ हो, और कदाचित् मिथ्यात्व का उदय हो गया हो, तो भी तीसरे भव में बोधि प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की आत्मा के लिए यह बात सुनिश्चित है। पर, अन्य आत्माओं के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है। अन्य आत्माएं जो उगी भव में बोधि प्राप्त करें; ऐसा भी सम्भव है। अन्य आत्माओं के अन्तिम भव से पूर्व के भव मिथ्यात्व के उदयागले हो, ऐसा सम्भव है। अन्य आत्माओं ने पहले बोधि प्राप्त किया हो, और बाद में मिथ्यात्व के उदय वाणी हुई हो, तो अन्तिम भव तक वे बोधि को नहीं प्राप्त करती। यदि फिर फिर अन्तिम भव में ही बोधि प्राप्त करना सम्भव है। यह बात स्पष्ट है कि, भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की आत्माओं ने अन्तिम भव में सम्प्राप्ति के गुण में वर्द्धित नहीं होता, यह बात सुनिश्चित है। पर, अन्य आत्माओं के लिए ऐसा नियम नहीं है।

श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म निकाचित होने के पश्चात्, अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही इस पुण्यकर्म का प्रदेशोदय प्रारम्भ हो जाता है। इसके फलस्वरूप इस पुण्य कर्म को निकाचित करने वाले पुण्य आत्माओं का ऐश्वर्य तो तभी से प्रारम्भ हो जाता है; परन्तु इन 'ऐश्वर्य' भूत की परिपूर्णता तो सर्वज्ञ दशा में ही अनुभवित होती है। इसका कारण यह है कि, ये आत्माएँ अपने अन्तिम भव में अपने चारों घाती कर्मों को क्षीण करके जब केवलज्ञान का उपार्जन करती हैं तब से तीर्थङ्कर-नामकर्म का विपाकोदय का प्रारम्भ होता है। और, जब तक ये आत्माएँ अपने दोष चार अघाती कर्मों को क्षीण नहीं कर डालती, तब तक तीर्थङ्कर-नामकर्म का विपाकोदय चालू रहता है। इस प्रकार भगवान् श्री जिनेश्वर देव को सम्पूर्ण ज्ञान-रूप आत्मिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के साथ ही, अद्भुत बाह्य ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। इसीलिए, इन तारकों की सर्वज्ञ के रूप में स्तवना करने के पश्चात् तुरन्त दोकातार परमपि ने इन तारक के स्तवों का स्मरण करके 'ईश्वर' के रूप में उनकी स्तवना की।

अन्तिम में दूसरे भव में भी श्रेष्ठता :

उक्त में आये हैं कि, श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म-रूप पुण्य कर्म का प्रारम्भ तब से निकाचित होता है, तभी से इस पुण्य का फलस्वरूप प्रारम्भ हो जाता है। और, यह प्रदेशोदय अवसर-रूप में ही प्रारम्भ होता है। अन्तिम में आये हैं कि, श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म-रूप पुण्य कर्म का प्रारम्भ तब से निकाचित होता है, तभी से इस पुण्य का फलस्वरूप प्रारम्भ हो जाता है। और, यह प्रदेशोदय अवसर-रूप में ही प्रारम्भ होता है। अन्तिम में आये हैं कि, श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म-रूप पुण्य कर्म का प्रारम्भ तब से निकाचित होता है, तभी से इस पुण्य का फलस्वरूप प्रारम्भ हो जाता है। और, यह प्रदेशोदय अवसर-रूप में ही प्रारम्भ होता है।

जाता है, इनकी दीक्षा कल्याणकारी कही जाती है, इनका केवलज्ञान कल्याणकारी कहा जाता है और इनका निर्वाण कल्याणकारी माना जाता है^१। सदा दुखो का अनुभव करते हुए नारक जीव को भी इन कल्याणकों के समय आनन्ददायक होता है। फिर अन्य गति के जीवों के लिए तो पूछना ही क्या ? अन्तिम भव में इन तारकों की दशा अथवा प्रवृत्ति किसी के लिए भी अकल्याणकारी नहीं होती। ये तारक एकान्त कल्याणमय जीवन व्यतीत करते हैं। अन्तिम भव प्राप्त करते ही ये तारक देवों तथा देवों के स्वामी इन्द्र द्वारा सेवित होते हैं। ये तारक जब जन्मते हैं तो सभी इन्द्र आकर उन्हें मेरु-

चन्द्र मा, चौथे नरक में मेवाच्छादित चन्द्र-मा, पाँचवे नरक में अक्षतारा मा, छठे नरक में नक्षत्र-तारा-मा और सातवे नरक में नाग-मा—देखिए नवपद बालावरोध

१. जी-माटिन में ज्यमन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण की पदानुक्रमण की संज्ञा दी जाती है।

२. जी-माटिन में ६८ इन्द्र बताये गये हैं :

प्रथम भस्मपति के १ चमन तथा (२) वटि अमुरकुममारिन्द्र
द्वितीय भस्मपति के (३) भस्म तथा (४) भूतानन्द नागाकुमारिन्द्र
तृतीय भस्मपति के (५) देव तथा (६) देवुगमी मुर्गा कुमारिन्द्र
चतुर्थ भस्मपति के (७) रवि तथा (८) हनुमिन् विरुमारिन्द्र
पंचम भस्मपति के (९) अग्निशिखा और (१०) अग्निभाषक
षष्ठ भस्मपति के (११) पुन और (१२)
सप्तम भस्मपति के (१३) तारा और

श्री भगवतीजी-सूत्र-व्याख्यानमाला

जाता है, इनकी दीक्षा कल्याणकारी कही जाती है, इन्हीं केवलज्ञान कल्याणकारी कहा जाता है और इनका निर्वाण कल्याणकारी माना जाता है। सदा दुखो का अनुभव करते हुए नारक जीव को भी इन कल्याणकों के समय आनन्ददायक होता है। फिर अन्य गति के जीवों के लिए तो पूछना है क्या ? अन्तिम भव में इन तारकों की दशा अथवा प्रवृत्ति किसी के लिए भी अकल्याणकारी नहीं होती। ये तारक एकात्म कल्याणमय जीवन व्यतीत करते हैं। अन्तिम भव प्राप्त करते ही ये तारक देवो तथा देवो के स्वामी इन्द्र द्वारा सेवित होते हैं। ये तारक जब जन्मते हैं तो सभी इन्द्र आकर उन्हें में

चन्द्र-सा, चौथे नरक में मेघाच्छादित चन्द्र-सा, पाँचवे नरक में ग्रह-गारा सा, छठे नरक में नक्षत्र-तारा-सा और सातवें नरक में तारा सा—देखिए नवपद वालावबोध
 १. जैन साहित्य में च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण को पञ्चमार्गात्मा की मजा दी जाती है।
 २. जैन साहित्य में ६४ इन्द्र बताये गये हैं :

प्रथम भगवती के १ चमर तथा (२) बलि अयुक्कुमारेन्द्र
 द्वितीय भगवती के (३) वरुण यथा (४) भूतानन्द नागाकुमारोन्द्र
 तृतीय भगवती के (५) वैष्णु तथा (६) वैष्णुदारी मुर्गु कुमारोन्द्र
 चतुर्थ भगवती के (७) रत्न तथा (८) द्युतिरिन्द्र विष्णुमारोन्द्र
 पंचम भगवती के (९) अग्निशिव और (१०) अग्निमारोन्द्र
 षष्ठ्य भगवती के (११) पूर्ण और (१२) अर्ध
 सप्तम भगवती के (१३) अर्ध

